हठयोगप्रदीपिका।

संस्कृतटीका और भाषाटीकासे

सहित।

P. B. SANSKRIT 246

22500848134

Digitized by the Internet Archive
in 2018 with funding from
Wellcome Library

https://archive.org/details/b30095013

P.B. Sansk. 246.

WELLCOME
LIBRARY
INSTITUTE

SVĀTMĀRĀMĀ

335254

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

सा च

सहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्माराम-
योगीन्द्रविरचिता

ब्रह्मानन्दकृतज्योत्स्नाभिधया टीकया समलंकृता

दाधीचकुलोत्पन्नेन स्वर्वासिना श्रीधरेण कृतया

मनोभिलाषिण्या भाषाव्याख्ययोपेता च ।

मुम्बईनगरे

प्रबोधरत्नाकरसमाख्ये मुद्रणयन्त्रालये

मुनि ७ वसुधा १ पुराण १८ प्रमिते शालीवाहनशके १८१७

परलोकनिवासिनो जटाशंकरात्मजश्रीधरस्य धर्मपत्न्या

ताराबाई संज्ञया

मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

तृतीयं संस्करणम् ।

मूल्यं रूप्यकद्वयम् २

विज्ञापन.

यह ग्रंथ निचें लिखे पत्ते पर नगद दाँम देनेंसें मिलेगा.

मुंबईमें.

भुलेश्वरचकला अनंतवाडी गल्लीके सांमनें " यदुवंशीय पुस्तकालय " मे. रामवाडीके पास पंडित **ज्येष्ठारामसुकुंदजी** तथा **हरिप्रसादभगीरथजी**की दुकानमे. कालिकादेवीरस्तेपर, **रामदासकाशीदास** मोदीकी कंपनीकी दुकानमे. मिलेगा.

सन १८६७ संख्याकराजनियमस्य २५ संख्यांशानुसारेण लेखारूढां कृत्वा ग्रंथकर्त्रा
सर्वेऽधिकाराः स्वाधीनाः स्थापिताः ।

॥ श्री ॥

भारतमार्तंड श्रीमद्वेदान्तभट्टाचार्यप्रसिद्धपंडितशिरोमणि श्रीगट्टूलालजीकी तरफसूं प्रसिद्ध किये भये ग्रंथ विक्रयार्थ सिद्ध हैं.

			किं. रु.	आ.	ट. आ.	पै.
१	वेदांतचिंतामणि.	संस्कृत	०	८	१	०
२	श्रीवल्लभस्तुतिरत्नावलीपर टीका	,,	१	०	१	६
३	सत्सिद्धांतमार्तंड	,,	५	०	६	०
४	मारुतशक्ति (सहस्राक्षका खंडन)	,,	५	०	८	०
५	गुजराती नवाख्याननी श्रीजीवनजी महाराजकृत टीकापर टीप्पण.	गुजराती	३	०	६	०
६	वैष्णव व्रतोत्सवकी टीप (वार्षिक)	,,	०	१	०	६
७	भुकुंडचरित्र	,,	०	२	०	६
८	सुमनोबिनोद [गद्यपद्यात्मकविषयो]	,,	१	०	२	०
९	हृदयदूतसार [ग्रंथकारनाचरित्रसहित]	,,	०	३	०	६
१०	नीतिनिदर्शन.	,,	०	४	०	६
११	श्रीमद्भगवद्गीता समश्लोकी [न्यासध्यानसहित]		१	०	२	०
१२	कामंदकीनीतिसार [सार्थ तथा सटीक सर्ग १ लो]	,,	०	५	०	६
१३	वैराग्यशतक अप्पयदीक्षितकृत. भाषांतर	,,	०	४	०	६
१४	कच्छमहोदय, भाषांतर	,,	०	४	०	६
१५	बृहत्कथासार लंबक पेहेलो कथापीठ	,,	२	४	२	०
१६	दशावतारस्तोत्र	,,	०	४	०	६
१७	रसिकवल्लभ दयारामकृत	,,	०	१०	१	०
१८	प्रहलादाख्यान भाणदासकृत	,,	०	१०	१	०
१९	आर्यसमुदय प्रथमस्तबक	,,	५	०	८	०

उपर लिखे भये ग्रंथ मुंबई भुलेश्वरचकला अनंतवाडी गल्लीके सामने हमारे "यदुवंशीय पुस्तकालय" में या कालिकादेवीरस्तेपर "रामदास काशीदास मोदीकी कंपनी" की दुकानमे नगद दाम देनेसे मिलसकैंगे. वेल्यु पेबल रु. १० तक आने २ जादें पडेगे.

गोवर्धनदास लक्ष्मीदास,

अप्रसिद्ध और प्राचीन ग्रंथप्रकाशक–मुंबई.

प्रस्तावना.

योगविषयमैं हठप्रदीपिका अतिसुंदर है. स्वात्माराम योगींद्रनें या समयके मनुष्यनकूं सुबोधके लियैं जो शिवजीनैं पार्वतीजीकूं हठविद्याको उपदेश कियो ये प्रसंग महाकाल योगशास्त्रमैं वर्णन किया है और परम महान् ब्रह्माजीनैंबी ये हठविद्या सेवन करी है. जिस ऊपर योगीयाज्ञवल्क्यस्मृती है "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" और श्रीकृष्णनैं अर्जुनकूं गीताजीमैं योग कह्यो है और श्रीमद्भागवतमैं उद्धवजीकूं कह्यो है और शिवजी तो योगी प्रशिद्ध हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इनन्नें ये विद्या सेवन करी है यातें या विद्याकूं नारदादिक और श्रीशुकादिक और याज्ञवल्क्यादिक ज्ञानीनमें मुख्य इनन्नें सेवन करी है और शिवजीसूं मत्स्येंद्रनाथनैं योग श्रवण कियो. मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ ये दोनों हठविद्याके जानवेवाले हुये और गोरक्षनाथकी कृपासूं स्वात्माराम योगींद्र हठविद्या प्राप्त हुये. जा स्वात्मारामनैं मुमुक्षू जननकें हितके लियें हठप्रदीपिकानामक योगका ग्रंथ किया है. जिसमैं उपदेश ४ च्यार हैं तिनमैं प्रथम उपदेशमैं यमनियमसहित आसनप्रकर्ण कह्यो है हठको प्रथमांग आसन है यातैं प्रथम आसन कहे और ये आसन देहको और मनको चाञ्चल्यरूप जो रजोधर्म ताकूं नाशकरकें स्थिरता करें हें यातें प्रथम आसन कहे.

दूसरें उपदेशमैं प्राणायामको प्रकर्ण कह्यो हे और प्राणायामके करनेसूं मलशुद्धी होय हे और मलशुद्धी हुयेसूं हठसिद्धी होय हे और प्राणायामसूं वायु स्थिर होय हे और वायुके स्थिर होयवेसूं चित्त स्थिर होय है और वायु और चित्त इन दोनोनके स्थिर होयवेसूं योगी दीर्घजीवी होय और ईशताकूंबी प्राप्त होय है और मनकी स्थिरतासूं सर्व सिद्धी होय हैं यातें प्राणायामविधान कह्यो.

और तृतीय उपदेशमैं महामुद्रादिक दशमुद्रा कही हैं. मुद्रानके उपदेशकर्त्ता गुरूनके वाक्यमैं तत्पर रहै और आसन कुंभकादिकनकूं करै और आहार विहार चेष्टादिक विषयनमैं तत्पर रहै और महामुद्रादिकनको अभ्यास वारंवार आवर्तन तामैं सावधान रहे तो अणिमादिक सिद्धीनकरकैं सहित मृत्युकूं बचाय जाय.

और चतुर्थ उपदेशमैं प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम कह्यो है. वो समाधिक्रम केसो है. बहोत उत्तम है और आदिनाथ शिवजीनें संपादन किये कोटिनसमाधिके प्रकार

तिनमैं उत्कृष्ट है और कालकूं निवारण करवेवालो है और योगींकूं स्वेच्छापूर्वक देहत्याग करवेमें योग्य है और तत्त्वज्ञानके उदयकरकें वासनाको क्षयपूर्वक जीवन्मुक्तिसुखको उपाय है और प्रारब्धकर्मको क्षय करकैं जीव और ब्रह्मको अभेदकरकें आत्यंतिक ब्रह्मानंदप्राप्तिरूप मुक्तिको करवेवालो है एसो समाधिक्रम कह्यो है.

एसी ये हठप्रदीपिका योगमार्गके जानवेवारे लोगोंकूं बहोत योग्य है याके ऊपर ब्रह्मानंदकी करीहुई जोत्स्नाभिधा टीका संस्कृत है सो हठप्रदीपिका प्राचीन हे. हमनैं बडे श्रमसूं ये संपादन करी है सो ये हमनें लोगोंकूं उपयोगके तांई छपायी है कारण ये है के योगवर्णन श्रीमद्भागवतादिकनमैं किया है और योगका काम सब शास्त्रमैं पडता हैं और लोग योगकूं जानते नहीं हैं. कारण योगशास्त्र सहसा मिलते नहीं हे इस्सें योगमार्ग प्रवर्त नही हुया यातैं हमनैं लोगोंकूं ये उपयोग होनेकेवास्ते हठप्रदीपिका मूल और संस्कृत टीका और इसका भाषांतर टीका हमनैं बनायकरकें और खूब श्रमसूं शुद्ध करकै हमने छपाया है सो सब सज्जन पुरुषनकूं मेरे ऊपर कृपाकरकै इसकूं मान्य करवेमें आवे ॥

तृतीयावृत्तिकी भूमिका.

ईश्वर कृपासें इस ग्रंथकी दो आवृत्ति खप जानेसें सज्जनोंनें मेरे पतीके श्रमका सार्थक किया उससें मै उनका बडा आभार मानती हूं और यह लोकमान्य ग्रंथ सांप्रत दुष्प्राप्य होनेसें बहोत सज्जनोंने पुनरपि छपवाय सिद्ध करके मेरे परलोकवासी पतीके नामके साथ मेराभी नाम ग्रंथद्वारा अमर करनेका बडा आग्रह करनेसें इस ग्रंथकी यह त्रतियाव्रती छपवा प्रसिद्ध करी हे सो आप महाशयोनें जिसतरा पूर्व प्रकाशित इस ग्रंथकी दोनों आवृत्तिकों उत्तेजन दे हमकों कृतार्थ किया तद्वत् इस आवृत्तिकोभी उत्तेजन दे आप मुजे कृतार्थ करेंगे ऐशी पूर्ण आशा है.

इस तृतीयावृत्तिके छपानेका यत्न शेठ **ईश्वरदास त्रिभुवनदास** सट्टावाले तथा पं० **माधवजी रामप्रसादके** सहायतासें और फारम वगैरा तपासनेका शेठ **गोवर्धनदास लक्ष्मीदास** प्राचीन ग्रंथ प्रकाशकने श्रम लेनेसें सिद्ध हुवा वास्ते में उनकी बडी उपकृत भइ हूं.

आपकी कृपाकांक्षिणी

परलोकवासी पं. श्रीधरजटाशंकरकी धर्मपत्नि

ताराबाई.

हठयोगप्रदीपिकानुक्रमणिका.

॥ अथ प्रथमोपदेशः ॥

	पृष्ठ.
१ मंगलाचरण	१
२ गुरुनमस्कार मंगलाचरण	२
३ हठयोगसें राजयोगसिद्धि	३
४ ज्ञानकी सातभूमि अर्थसहित....	४
५ हठविद्याकी श्लाघा	५
६ महासिद्धनके नाम	६
७ योगीनको आधार हठ	८
८ हठविद्याकूं गोप्यपनो	९
९ हठाभ्यासके योग्य देश	१०
१० मठलक्षण	११
११ योगाभ्यासके नाशकर्त्ता	१३
१२ योगकी सिद्धीके कर्त्ता	१३
१३ यमनियम	१४
१४ आसनप्रकर्ण	१४
१५ स्वस्तिकासन	१५
१६ गोमुखासन	१६
१७ वीरासन	१६
१८ कूर्मासन	१६
१९ कुक्कुटासन	१७
२० उत्तानकूर्मासन	१७
२१ धनुरासन	१७
२२ मत्स्येंद्रासन फलसहित	१८
२३ पश्चिमतानासन फलसहित	१९
२४ मयूरासन गुणसहित....	२०
२५ प्रयोजनसहित शवासन	२१
२६ सिद्धासन	२२
२७ मतांतरका सिद्धासन....	२३
२८ सिद्धासनकी श्लाघा	२३
२९ पद्मासन	२५
३० दूसरा पद्मासन	२६
३१ सिंहासन	२८
३२ भद्रासन	२९
३३ हठाभ्यासका क्रम	३०
३४ योगीनका मिताहार	३१
३५ योगीनको अपथ्य	३२
३६ योगीनका पथ्य	३४
३७ योगीनकूं भोजननियम	३४
३८ अभ्यासतें सिद्धि	३५
३९ योगांग अनुष्ठानकी अवधि	३६

इति प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयोपदेशः ॥

४० प्राणायामप्रकरण	३७
४१ प्राणायाम प्रयोजन	३७
४२ मलशुद्धीसूं हठसिद्धि	३८
४३ मलशुद्धिकर्त्ता प्राणायाम	३८
४४ प्राणायाममें विशेषता	४०
४५ प्राणायामका अवांतर फल	४०
४६ प्राणायामके अभ्यासका काल और अवधि....	४१

	पृष्ठ.
४७ उत्तम मध्यम कनिष्ठ प्राणायाम	४१
४८ प्राणायामतें प्रस्वेदहोनेमें विशेषता	४३
४९ अभ्यासकालमें दुग्धादिनियम	४४
५० योग्य अयोग्यका फल	४४
५१ मेधके अधिकहोनेमें उपाय	४६
५२ षट्कर्म	४६
५३ धौतीकर्म फलसहित	४७
५४ बस्तीकर्म गुणसहित	४८
५५ नेतीकर्म गुणसहित	५०
५६ त्राटककर्म गुणसहित....	५१
५७ नौलीकर्म गुणसहित....	५२
५८ कपालभातीकर्म गुणसहित	५२
५९ षट्कर्म प्राणायामके उपकारी	५३
६० मतांतरमें षट्कर्म असंमत	५३
६१ गजकरणी	५४
६२ प्राणायामका अभ्यास आवश्यक	५४

	पृष्ठ.
६३ विचित्रकुंभकनको मुख्य फल	५५
६४ कुंभकके भेद	५६
६५ सर्व कुंभकनकी साधारण युक्ति	५६
६६ सूर्यभेदन गुणसहित	५८
६७ योगाभ्यासक्रम	५८
६८ उज्जायी	६१
६९ सीत्कारी कुंभक	६३
७० शीतली गुणसहित	६४
७१ भस्त्रिका पद्मासनसहित	६५
७२ भ्रामरीकुंभक	६९
७३ मूर्छाकुंभक	७०
७४ प्लाविनीकुंभक	७०
७५ प्राणायामके भेद	७०
७६ हठाभ्यासतें राजयोगप्राप्तिप्रकार	७३
७७ हठसिद्धीके लक्षण	७४

॥ इति द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयोपदेशः ॥

७८ कुंडलीकूं सर्वयोगका आश्रय....	७५
७९ कुंडलीके बोधका फल	७५
८० सुषुम्नावाचक शब्द	७६
८१ दश महामुद्रा	७६
८२ महामुद्राके फल	७६
८३ अष्टसिद्धीनके अर्थ	७७
८४ महामुद्रा	७८
८५ महामुद्राभ्यासक्रम	८०
८६ महामुद्रानके गुण	८१
८७ महाबंध	८२
८८ महावेध	८४
८९ इन तीनों मुद्रानका पृथक् साधन	८६
९० स्वरूपलक्षणसहित खेचरी	८७
९१ खेचरीसाधन....	८८
९२ खेचरीके गुण	८९
९३ गोमांस और अमरवारुणीका-अर्थ....	९३
९४ अर्थसहितउड्डियानबंध	९७
९५ मूलबंध	९९

		पृष्ठ.
९६	मतांतरका मूलबंध	९९
९७	मूलबंधके गुण	१००
९८	जालंधरबंध	१०२
९९	जालंधरपद्का अर्थ	१०३
१००	जालंधरके गुण	१०३
१०१	तीनो बंधनका उपयोग	१०४
१०२	देहका जराकरण	१०५
१०३	गुणसहित विपरीतकरणी....	१०६
१०४	फलसहित वज्रोली	१०८
१०५	वज्रोलीके अभ्यासमें उत्तरसाधन	११०
१०६	वज्रोलीके गुण	१११
१०७	सहजोली	११२
१०८	अमरोली	११४
१०९	स्त्रीनकी वज्रोलीसाधन	११५
११०	स्त्रीनकी वज्रोलीके फल	११६
१११	कुंडलीकरके मोक्षद्वारकों भेदन	११७
११२	शक्तिचालन	११७
११३	कंदका स्थानस्वरूप	१२०
११४	राजयोगविना आसनादिक व्यर्थ	१२५
११५	मुद्रोपदेष्टा गुरूकी श्लाघा	१२६

॥ इति तृतीयोपदेशः ॥३॥

॥ अथ चतुर्थोपदेशः ॥

११६	मंगलाचरण	१२८
११७	समाधिक्रम	१२८
११८	समाधिवाचक	१३०
११९	राजयोगकी श्लाघा	१३१
१२०	समाधिसिद्धीसूं अमरोल्यादिक सिद्धि	१३३
१२१	हठाभ्यासविना ज्ञानमोक्षकी सिद्धी नही	१३३
१२२	प्राणमनकी लयरीती	१४०
१२३	प्राणके लयसूं कालका जय	१४०
१२४	लयका स्वरूप	१४८
१२५	शांभवी मुद्रा	१४९
१२६	उन्मनी मुद्रा	१५०
१२७	उन्मनीविना और तिरवेको उपाय नही	१५१
१२८	उन्मनीभावनाकूं कालनियमका अभाव	१५२
१२९	खेचरीमुद्रा	१५३
१३०	मनके लयसूं द्वैतकावी लय हे	१५९
१३१	नादानुसंधानरूप मुख्योपाय	१६१
१३२	शांभवीमुद्राकरकें नादानुसंधान	१६२
१३३	पराङ्मुखी मुद्राकरकें नादानुसंधान	१६३
१३४	नादकी च्यार अवस्था	१६३
१३५	आरंभावस्था	१६३
१३६	घटावस्था	१६४
१३७	परिचयावस्था	१६५
१३८	निष्पत्ति अवस्था....	१६६
१३९	प्रत्याहारादि क्रमकरकें समाधि	१६८
१४०	नानाप्रकारके नाद	१६९
१४१	उन्मनी अवस्थामें योगीकी स्थिति	१७७
१४२	योगीनकूं ज्ञानद्वारा मुक्ति....	१८१

॥ इति चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

॥ श्रीः ॥

॥ हठयोगप्रदीपिका ॥

॥ टीकाभाषाभ्यां समेता ॥

प्रथमोपदेशः ।

मू० श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या॥
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानंदेन तन्यते ॥ हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥ इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गोरक्षसिद्धांतहार्दम् । मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽत्यंतगूढोऽपि भावः ॥ २ ॥ मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगींद्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मंगलं तावदाचरति॥ श्रीआदिनाथायेत्यादिना ॥ तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआदिः श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय विष्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु ' अपि माषं मषं कुर्याच्छंदोभंगं त्यजेद्गिराम् ' इति च्छंदोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तनित्यविध्यु-

॥ भाषा ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥ मोक्षकी इच्छावालेनके हितके लिये राजयोगद्वारा मोक्षफल जामें ऐसी जो हठप्रदीपिका ताय कर्यो चाहे ऐसे जो परमकरुणावान् स्वात्माराम योगींद्र सो हठयोगप्रवर्तक श्रीमान् आदिनाथ शिवजीकूं नमस्कारपूर्वक मंगलाचरण करे है ॥ श्रीआदिनाथायेति ॥ श्रीआदिनाथ जो शिवजी तिनके अर्थ नमस्कार हो. अथवा श्री आदिमे जिनके ऐसे जो नाथ श्रीविष्णु तिनके अर्थ नमस्कार हो. जा शिवजीने हठयोगविद्या पार्वतीजीकूं कही. (ह) कहिये सूर्य (ठ) कहिये

सू० प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

देश्यतावच्छेदकानाक्रांतत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् संप्रत्युदाहृतदृष्टांतद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाच्चासंमृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तैरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथानादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयंतु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह ॥ येनेति ॥ येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचंद्रौ तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धं । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ । हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते । सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः मंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्याप्यपे-

॥ भाषा ॥

चंद्रमा जो प्राण ओर अपान इन दोनोंनकूं ऐक्य करवेवालो प्राणायाम ताकूं हठयोग कहे हे. हठयोगकूं प्रतिपादन करे सो हठयोगविद्या. ये विद्या प्रकर्षकरके उन्नत जो राजयोग सो मंत्रयोग हठयोगकूं आदिले अठारे योग हें वे अधरभूमी हे. उनके ऊंची भूमी राजयोग हे राजयोग समाधीकूं कहे हे. ये सबके ऊपर हे यापें चढवेकूं इच्छाकरें जो मुमुक्षु तिनकूं ये हठविद्या प्रकाशे हे. केसी जेसें ऊंचे स्थानपे चढवेवारेकूं निसेनी कहा काष्ठकी चढवेकी ऐसें ये हठप्रदीपिका प्रकाशे हे. ॥ १ ॥

अब अपने गुरुकूं नमस्काररूप मंगलाचरण कर ग्रंथके विषय प्रयोजनादिक दिखा-

मू० भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥

॥ टीका ॥

क्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रंथस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति । प्रणम्येति । श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्धय इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्धयस्त्वानुषंगिक्यः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलं । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रंथविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबंधः । ग्रंथस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबंधः । ग्रंथाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थितचित्तानां मंत्रयोगादिभी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च 'विना राजयोग' इत्यादिना । तथा राजयोगं अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषां अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः । कृपाया आकर इति वा । तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात् । तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो

॥ भाषा ॥

बेहे ॥ प्रणम्येति ॥ अपने श्रीमान् गुरुनाथ ताय नमस्कार करकें योगी स्वात्मारामकरकें केवल राजयोगके अर्थ हठविद्या कहीजाय हे राजयोग फलसहित हठयोग या ग्रंथको विषय हे । राजयोगद्वारा कैवल्य याको फल हे । याकी कामना करे सोई अधिकारी । ओर ग्रंथ विषय इनको प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव है सो संबंध है ॥ २ ॥

मंत्रयोग सगुणध्यान निर्गुणध्यान मुद्रादिकनकरकें राजयोगसिद्धि होय जाय, फिर हठविद्याके उपदेशकरकें कहा प्रयोजन के मंत्रयोगादिकनकरकें राजयोग नही सिद्ध होय हे हठयोगसेंही राजयोगसिद्धि हे ये कहे हे ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिक बहुमतरूप

हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तं। तथा च श्रुतिः । 'आत्मक्रीडा आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे। 'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति। अस्यार्थः। शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रमुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता योगिभिरिति शेषः । १ । विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् ।२। अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसे यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः। ३। इमास्तिस्रः साधनभूमिकाः। आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते। तिसृभिर्भूमिकाभिकाभिः शुद्धसत्वेऽतःकरणेऽहं ब्रह्माऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका । ४ । वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञातयोगभूमयः । सत्वापत्तेरनंतरा सत्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिःस्यात्। अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते। एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते।५। परब्रह्मातिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते । ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता । 'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्तः' इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

जो वह अंधकार तामे जो भ्रांति भ्रम ताकरिकें राजयोगकूं नही जाने ऐसे पुरुषोंकूं राजयोगज्ञान हे सो कृपाके करवेवारे स्वात्माराम हे सो हठयोगके प्रकाशकी करवेवाली हठप्रदीपिका ताय करें है स्वात्मारामका अर्थ ये है अपने आत्मामें रमणकरे ओर ज्ञानकी सात भूमिका ताय प्राप्त होय ब्रह्मवेत्तानमे श्रेष्ठ होय वो स्वात्माराम होय हैं. योगवासिष्ठमे ज्ञानकी सात भूमी कहे है ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमिकाके अर्थ विवेक वैराग्य-

मू० हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति ॥ हठविद्यां हीति ॥ हीति प्रसिद्धं मत्स्येंद्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येंद्रगोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो ग्राह्याः । ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानंतीत्यर्थः । स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा । अथवा शब्दसमुच्चये । योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः । 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।' इति वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः । तथा च श्रुतिः । 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता । शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शंकनीयम् । प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्धिर्भेदांशमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्व-

॥ भाषा ॥

युक्त शमदमादिक पूर्व जामे तीव्र मुमुक्षारूपा प्रथमा १ श्रवणमननरूपा द्वितीया २ अनेक अर्थनकूं ग्रहण करवेवालो मन हे जब अनेक अर्थनकूं त्याग करके सत् एकार्थ वृत्तिप्रवाह किसी होय सो तृतीया ३ ये तीन तो साधनभूमि हे इन तीनो साधनभूमीने करके जब अंतःकरण शुद्धसत्व होय तब 'अहं ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म हूं या प्रकार कहे हे योगी. चतुर्थी सत्वापत्ति ज्ञानभूमि येही फलभूमि यामे प्राप्त हुयो जो योगी ताकूं ब्रह्मविद् या प्रकार कहे हे ४ याके अनंतर या सत्वापत्ति भूमीमेंही समीप उठी हुई जे सिद्धि तिनमें नही आसक्त होय वाय असंसक्तिक नाम पांचमी ज्ञानभूमि कहे हें यामे योगी प्राप्त होय ताकूं ब्रह्मवेत्तानमे ब्रह्मविद्वर कहे हें ५ जामें परब्रह्म सुंव्यतिरिक्त अर्थकूं नही भावना करे वो परार्थाभाविनी नाम छटी ज्ञानभूमि हे यामें प्राप्त हुये योगीकूं दूसरो बोध करावे जब उठे हे यामें प्राप्त योगीकूं ब्रह्मविद्वरीयान् कहे हें ६ तुर्यगा नाम सातमी भूमी यामे योगी प्राप्त होय ताकूं ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहे हें पहले ये जीवन्मुक्त कहे हें सोही यामें स्वात्माराम पद कहें है ॥ ३ ॥

महात्मानकरकें सेवन करी जाय हे यातें हठविद्याकूं श्लाघा करत आपकूंबी महा

मू० श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः ॥
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

॥ टीका ॥

संमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥' इति । नारायणतीर्थैरप्युक्तम् । 'स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः ॥ अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः । मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र संतोऽतिसादराः ॥' इति । 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥' इति भगवदुक्तेः । किं बहुना 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।' इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह ॥ श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदंति । मत्स्येंद्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदंती । कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे । तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादि-

॥ भाषा ॥

त्मानते हठविद्याको लाभ हुये सो गौरवता कहें हैं ॥ हठविद्यां हीति ॥ मत्स्येंद्र गोरक्ष ये हें आदिमें जिनके ऐसे जालंधरनाथ भर्तृहरि गोपीचंद्रकूं आदिलेके जो हे ते हठविद्या ताय विशेषकर साधन लक्षण भेदफलकरजाने है योगवान् स्वात्माराम जो में हूं सो गोरक्षके कृपातें जानुहूं ये विद्या परम महान् ब्रह्माजीबी सेवन करते हुये और भगवाननेंबी उद्धवादिकन प्रति कही हे ओर शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इनकरकें सेवित ये विद्या हे ॥ ४ ॥

हठयोगमें प्रवृत्तिहोयवेकूं हठविद्याकरकै प्राप्त हुये हें ऐश्वर्य जिनें ऐसे जो सिद्ध तिनै कहें हैं ॥ श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ श्रीआदिनाथ शिवजी संपूर्णनाथनके मध्यमें प्रथम

मू० मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

नाथो जलेन प्रोक्षितवान् । स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येंद्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येंद्रनाथ इति वदंति । शावरनामा कश्चित्सिद्धः । आनंदभैरवनामान्यः । एतेषामितरेतरद्वंद्वः । छिन्नहस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदंति । कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येंद्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येंद्रोपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौरंगीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा बिलेशयनामा च । चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ५ ॥

मन्थान इति । मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥

कानेरीति । काकचंडीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

नाथहै इनतेंही नाथसंप्रदाय प्रवृत्त हुयो ओर मत्स्येंद्र आदिनाथके शिष्य हें कैसें कोईसमयमें महादेवजी कोई द्वीपमें स्थित हे तहां पार्वतीजीके अर्थ योग कहरहेहे वहां तीरसमीप जलमें कोई मत्स्य योगोपदेश सुनकर एकाग्रचित्त निश्चलकाय होय गयो ताय देखकर शिवजीने विचार्यो याने योग श्रवण कियो ताय ऐसो मानकर कृपालु आदिनाथने जलकरके प्रोक्षण कियो वा जलके प्रोक्षणमात्रतें दिव्यदेह मत्स्येंद्र सिद्ध हुयो ताय मत्स्येंद्रनाथ कहेहैं शाबरनाथ आनंदभैरवनाथ चौरंगी ये आदिनाथतें योग प्राप्त हुये पीछें कदी पृथ्वीमें विचर रहेहे तिनके कृपालोकनतेंही कोई एक वनमें चौर हातपाम जाके कटेहुये सो हातपामसहित होगयो जब वो इनकी कृपा करकें मेरै हात पाम हुये ऐसें मनमें मान उनके चरणमे नमस्कार कर कह्यो मोपे कृपा करो यह प्रार्थना करतो हुयो तब मत्स्येंद्र अनुग्रह करते भये उनकी अनुग्रहतें चौरंगी या नामकर प्रसिद्ध हुयो ओर मीननाथ गोरक्षनाथ विरूपाक्ष बिलेशय ॥ ५ ॥

मंथान इति । मंथान भैरव योगी सिद्धि बुद्ध कंथडि कोरंटक सुरानंद सिद्धपाद चर्पटी ॥ ६ ॥

कानेरीति । कानेरी पूज्यपाद नित्यनाथ निरंजन कपाली बिंदुनाथ काकचंडीश्वर ॥ ७ ॥

सू० अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥
अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अल्लाम इति । तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥

इत्यादय इति । इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महांतश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पंचम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दंडनं दंडः देहप्राणवियोगानुकूलो व्यापारः तं खंडयित्वा छित्त्वा । मृत्युं जित्वेत्यर्थः । ब्रह्मांडमध्ये विचरंति विशेषेणाव्याहतगत्या चरंतीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते । ‘ योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनांतरात्मनाम् । ’ इति ॥ ९ ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह ॥अशेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं । शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजं । आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितं । आधिदैविकं ग्रहादिजनितं । ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवं । त्रिविधतापतप्तानां पुंसां आश्रयो हठः । यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १०॥

॥ भाषा ॥

अल्लाम इति । अल्लाम प्रभुदेव घोडा चोली टिंटिणि भानुकी नारदेव खंड कापालिक ॥८॥

इत्यादय इति । ये हैं आदिमें जिनके ऐसे तारानाथादिक ओरबी महांत सिद्ध अखंड ऐश्वर्य जिनके ते सब हठयोगके प्रभावतें मृत्युको दंड ताय छेदन कर कहा मृत्युकूं जीतकर ब्रह्मांडमें विचरें हें अखंडगतीकरकें ॥ ९ ॥

अशेषेति । आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इन भेदनकर तीन प्रकारकी

मू० हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह॥ हठविद्येति॥ सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वांछता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह । यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात् । अथ योगाधिकारी । 'जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ । अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै ॥' याज्ञवल्क्यः । 'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः॥कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥' इति । 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित् । अत्र योगचिंतामणिकाराः यद्यपि । 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनं । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' इत्यादि पुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूपं फलं योगे विरक्तस्यैव भवति । अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः । तथा च वायुसंहितायां । 'दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥' सुरेश्वराचार्यः । 'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता॥' इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तं । 'नैतद्देयं दुर्विनीताय जा-

॥ भाषा ॥

ताप हे तामें अध्यात्म दो प्रकारकी ताप शरीरमें रोगादिककरकें व्यथा होय सो शारीर दुःख और मनमें कामादिककरकें ताप होय जाकूं मानस दुःख कहें हें ओर व्याघ्रसर्पादिकनकरके ताप होय याकूं आधिभौतिक कहैं हें ओर ग्रहादिकनकर हुई जो पीडा ताकूं आधिदैविक कहें हैं इन सब तापनकर तपित हो रहे जे पुरुष तिनकू हठ योग आश्रयभूत मठ हे मठ गुफाकूं कहे हे मंत्रयोग कर्मयोगादिकनकर युक्त जे पुरुष तिनके आधारभूत कमठ कहा कूर्मचक्र ओर जैसें विश्वको कूर्म आधार है ऐसेंही सर्व योगनको आधार हठयोग है ॥ १० ॥

याके अनंतर सर्व विद्यानकी अपेक्षाकरकें हठविद्याकूं अतिगोप्यपनो है ताय कहें हें ॥ हठविद्येति ॥ अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व ये आठ

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

तु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो चिराय ॥ ' इति ॥ ११ ॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन ॥ सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । 'यथा राजा तथा प्रजा' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वन्हिः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते । यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शीतोष्णविकाराभावः सूचितः । एकांते विजने । अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः । जनसंमर्दे

॥ भाषा ॥

विभूती हें जो ये आठ सिद्धि इच्छाकरे अथवा कैवल्यसिद्धि इच्छाकरे ता योगीकरकें हठ विद्या अत्यंत गोप्यकरनो योग्य है. क्योंकि गुप्त रही हठविद्या अखंड ऐश्वर्य प्रगट करवेमें समर्थ होय ओर कैवल्यसिद्धि प्रगट करवेमें समर्थ होय ओर जो प्रकाश हुई विद्या सती निर्वीर्य हो जाय है ॥ ११ ॥

हठाभ्यासके योग्य देश ताय कहें हें सार्द्धेन ॥ सुराज्ये इति ॥ राजाको कर्म भाव राज्य सर्व शोभन जामें ऐसो सुराज्य होय धर्मवान् होय ओर राजा हठाभ्यासीकूं अनुकूल आहारादिक लाभ होय जामें ओर सुकाळ होय ओर चौर व्याघ्रादिक उपद्रवरहित होंय ओर जहां आसन होय तहांसुं धनुष्यप्रमाण अर्थात् च्यार हात मात्र पर्यंत शिला, अग्नि, जल ये न होंय ओर एकांत होय मनुष्यनको समागम न होय जनोंनके समागमतें कलह होय हे यातें ऐसी जगें मठिका अल्प छोटीसी बनायकें ताके मध्यमें हठयोगी अर्थात् हठाभ्यासको करवेवाले जो योगी ताकरकें स्थित होयवेकूं योग्य है मठमें बेठेंसुं शीत, उष्ण, वर्षा इनको क्लेश नही होय हैं ॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं ॥
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं ॥
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

तु कलहादिकं स्यादेव । तदुक्तं भागवते । 'वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ' इति । तादृशे मठिकामध्ये । अल्पो मठो मठिका । अल्पीयसि कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादित्वत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यं । मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः । अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये ।' इत्यर्धं केनचित्क्षिप्तत्वान्न व्याख्यातम् । मूलश्लोकानामेव व्याख्यानम् । एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

अथ मठलक्षणमाह ॥ अल्पद्वारमिति ॥ अल्पं द्वारं यस्मिंस्तत्तादृशं । रंध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिबिलं ते न संति यस्मिंस्तत्तादृशं । अत्युच्चं च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतं । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः नेति पृथक्पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सांद्रं यथा भवति तथा लिप्तं । अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जंतवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितं बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मंडपः शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो जलाशयविशेषः तै रुचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो

॥ भाषा ॥

याके अनंतर मठको लक्षण कहें हैं ॥ अल्पद्वारमिति ॥ छोटो द्वार जामें होय ओर जाली, झरोखा, मोखा, नीची ऊंची पृथ्वी मूसादिकनको बिलो जामें न होय ओर अति नीचो अति उंचो अति चोडोबी स्थान न होय (क्यो) चढवेमे उतरवेमे श्रम होय

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

॥ टीका ॥

भितियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नंदिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तं । 'मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितं । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितं ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥ कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगतांच्छांतान्मुनीन्याति मनःशमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमंडलं ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्कचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारेसारवर्जिते । अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान् जंतून्नतान्मत्तांश्चलद्व्रणान् ' ॥ १३ ॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह ॥ एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य स तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः । तस्मिंस्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चितास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् । एवशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितं । तदुक्तं योगबीजे । ' मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥ ' राजयोगे । ' वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्चनानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चितामणिर्ह्येकगुरुं विहाय ॥' स्कंदपुराणे । ' आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीःस्वयम् । यथोक्तं लभते

॥ भाषा ॥

चोडेमे दूरदृष्टी जाय यासुं सुंदर मोंवरसुं सघन लिप्यो होय ओर निर्मल होय सर्व जंतू मच्छर खटमलादिक कछूबी न होय ओर मठके बहार मंडपशाला, वेदीकीसीनाई, एक कूप जलाशय वृक्षावली पुष्पावली इनकरकें रमणीय स्थल होय च्यारोमेर भींतियुक्त होय हठाभ्यासमे शील स्वभाव जिनको ऐसे जो सिद्ध तिनें छोटे द्वारें जामें होय ऐसे जोगमठके लक्षण स्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

मठलक्षण कहकरकें मठमें कहाकरवो योग्य ताय कहें हैं ॥ एवंविधे इति ॥ या प्रकारके मठमें स्थित होयकरकें सर्व चिंता कर वर्जित होय ओर गुरूकरकें उपदेश दियो गयो जो हठाभ्यासप्रकाररूप मार्ग ताकरकें सदा सर्वदा योगाभ्यास करे ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ १५ ॥
उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिं ॥' सुरेश्वराचार्यः । 'गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतम् । शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥' इति । श्रुतिश्च 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च ॥ १४ ॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह ॥ अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारोऽत्याहारः क्षुधापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः । कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लौल्यं चांचल्यं । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधात् । योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह ॥ उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यम् उत्साहः।साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम्।यावज्जीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम्।विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः, ब्रह्मैव सत्यमिति वास्त-

॥ भाषा ॥

अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकनकूं कहेहैं ॥ अत्याहार इति ॥ अत्याहार कहा फिर भूक नलगे या लिये अधिक भोजन करले सो अत्याहार ओर श्रम जामें बोहोत होय सो प्रयास बोहोत बोलवो सो प्रजल्प ओर शीतल जलकर प्रातःस्नान रात्रिमें भोजन फलाहार इनकूं आदिलेकें जो नियम ग्रहण करनो सो ओर जननके संग ओर चांचल्यता इन छयोगनकरकें योग विनाश होय हे ॥ १५ ॥

अब योगसिद्धीके करवेवारेनकूं कहै हैं ॥ उत्साहादिति ॥ उत्साह १ साहस २ धैर्य ३ तत्त्वज्ञान ४ निश्चय ५ जनसंगपरित्याग ६ इनका अर्थ विषययुक्त चित्तकूं रोकनोई या उद्यममें सो उत्साह ओर ये साधनयोग्य है ओर ये नही साधनके योग्य है ऐसे विचार नही कर सहसा प्रवृत्ति होना सो साहस ओर धैर्यता और विषय मृगतृष्णाजल

॥ अथ यमनियमाः ॥

" अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः " ॥
हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

विकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्यागात् । षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह ॥हठस्येति॥ हठस्य । 'आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा । अथ नादानुसंधानम्' इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यंगानि । प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः। तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांगत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हंति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे । 'व्याधिरुत्थानसंशयप्र-

॥ भाषा ॥

कीसीनाई असत्य है ब्रह्मही सत्य है ये वास्तव ज्ञान सो तत्त्वज्ञान ओर शास्त्र गुरुवाक्य इनमें विश्वास श्रद्धा सो निश्चय और योगाभ्यासमें विघ्नकर्ता जननके संगकों परित्याग इन छयोगनकरकें हठाभ्यासीके योग प्रकर्षकरकें शीघ्रही सिद्धि होय ॥ १६ ॥

अब आसननको फल कहै हे ॥ हठस्येति ॥ हठके चार अंग हैं आसन १ कुंभक २ मुद्राकरणं ३ ओर नादको अनुसंधान ४ ये अगाडी कहेंगे इनके मध्यमें आसन प्रथमांग हे यातें पूर्व आसन कहे हैं ये आसन जो हे सो देहको मनको चंचलरूप जो रजोगुण धर्म ताय दूरकरकें स्थिरता करे हे ओर रोगकूंबी दूर करे हे ओर अंगनमें गौरवरूप तमोगुण धर्म हें ताय दूरकरे हे ओर अंगनकूं लघुता करे हे ओर क्षुधा प्यासकी वृद्धीकूंबी दूर करे हे ॥ १७ ॥

**वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येंद्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥
जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥**

॥ टीका ॥

मादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽतरायाः ’ इति । अंगानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यंत इत्याह ॥ **वसिष्ठाद्यैरिति** ॥ वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीना तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येंद्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यंते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येंद्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह ॥ **जानूर्वोरिति**॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशो ग्राह्यः । जंघोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदंति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तं । ‘ ऊरुजंघांतराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं

॥ भाषा ॥

वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ आदिमें जिनके ऐसे याज्ञवल्क्यादिक मननमें हे शील जिनके मंत्रादिकनमें परायण मुनी तिनकरकें ओर मत्स्येंद्र जालंधरादिक हठाभ्यासी योगी तिनकरकें ओर मुद्रादिकनमे परायण तिनकर अंगीकार किये चोराशी आसन तिनके मध्यमेंसुं कोईएक श्रेष्ठ आसन तिने में कहुहुं ओर वसिष्ठ याज्ञवल्क्यादिकनकूं मननमें मुख्यपनो हे ओर मत्स्येंद्रादिक हठाभ्यासमें मुख्य हें यातें दोनोंनके नाम न्यारे न्यारे आसन ग्रहण किये ॥ १८ ॥

सबमें सुगम हे यातें प्रथम स्वस्तिकासन कहें हैं ॥ **जानूर्वोरिति** ॥ जानु ऊरू इनके मध्यमें दोनो पामके तलु आनकूं करकें फिर सरल देहकर बेठजाय ताय स्वस्तिक आसन कहें हैं॥ १९॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥
एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥
गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः ॥' इति ॥ १९ ॥

गोमुखासनमाह ॥ सव्य इति ॥ सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २० ॥

वीरासनमाह ॥ एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादं । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

कूर्मासनमाह ॥ गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुद्ध्य नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

अब गोमुख आसन कहें है ॥ सव्येति ॥ वांई ओर कटिके नीचें दक्षिण गुल्फ अर्थात् टकना ताय धरकें ओर जेमनी कटिके नीचे वांये पामको टकना धरके बेठजाय गोमुख कीसी आकृति जाकी सो गोमुखसंज्ञक आसन होय है ॥ २० ॥

वीरासन कहे हैं ॥ एकमिति ॥ जैमनो पाम ताकूं वांये उरूमें स्थितकरकें फिर वांयो पाम दाक्षिण उरू धरतीमें धरकें स्थित होय जाय याये वीरासन कहें हैं ॥ २१ ॥

अब कूर्मासन कहें है ॥ गुदमिति ॥ दोनों पामनकी एढीनतें गुदाकूं रोककर सावधान स्थित होयजाय ये कूर्मासन हे याके भेद अगाडी कहेंगे ॥ २२ ॥

मू० पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥
कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥
पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ टीका ॥

कुक्कुटासनमाह ॥ **पद्मासनं त्विति** ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशः । तच ऊरुश्च जानूरू तयोरंतरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मकासनमाह ॥ **कुक्कुटासनेति** ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

धनुरासनमाह ॥ **पादांगुष्ठौ त्विति** ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः । एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुक्कुटासन कहें हे ॥ **पद्मासनं त्विति** ॥ दोनों पामके ऊरूनके ऊपर उंचें चरणस्थापन करकें दोनों हाथ जानु ऊरूनके बीचमें करकें पृथ्वीमें स्थापन कर हाथनके बल भूमिसें उठ अधरस्थित होय जाय ये कुक्कुटासन हें ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मासन कहे हें ॥ **कुक्कुटासनेति** ॥ कुक्कुटासनको जो बंध पूर्व कह्यो तेंसेंही स्थित होय वेसीही भुजानकर नाड पकडकर कूर्मकीसी नाईं उत्तान जामें होय सो ये उत्तानकूर्मक नाम आसन कहें हैं ॥ २४ ॥

अब धनुरासन कहें हैं ॥ **पादांगुष्ठौ त्विति** ॥ दोनों हस्तकर दोनों पामके अंगूठा ग्रहण करके कर्णपर्यंत धनुषके आकर्षणकीसीनाईं करे ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठ जामें

मू० वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् २६
मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् २७

॥ टीका ॥

मत्स्येंद्रासनमाह॥वामोर्विति॥वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य । जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिः प्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तितांगः वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येंद्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेव वदंति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रासनस्य फलमाह॥मत्स्येंद्रेति॥प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येंद्रपीठं मत्स्येंद्रासनम् । अभ्यासतः प्रत्य-

॥ भाषा ॥

ऐसो एक हस्त फैलायकरकें ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठ जामें एसो दूसरो हस्त ताय कर्णपर्यंत आकुंचित करे ये धनुरासन कहें है ॥ २५ ॥

मत्स्येंद्रासन कहें हें ॥ वामोरुमूलेति ॥ वांये ऊरूके मूलमें धर्‍यो जो जेमनो पाम ताय पीठमाहूतें गयो जो हस्त ताकर एडीको ऊपरलो भाग ताय ग्रहणकरके फिर जैमने पामके जानूके बहिःप्रदेशमे वेष्टित जो वामपादको जानू ताके बहार वेष्टित जैमनो हस्त कर अंगूठा पकड कर वर्त्त रह्यो है अंग जाको ऐसो योगी या आसनमें स्थिति करे ये आसन मत्स्येंद्रनाथनें कह्यो हे यातें याहि नामकर आसन कहें हें ऐसेंही जैमने पामके ऊरूके मूलमें धर्‍यो जो वामपाद ताय पृष्ठमाहूतें दक्षिण हस्तकर ग्रहणकर वामजानूके बहार वेष्टित दक्षिणपामको जानुके बहार वेष्टित वामहस्तकर ग्रहणकरकें स्थित होय ऐसें अभ्यास करें ये मत्स्येंद्रासन हे ॥ २६ ॥

अब मत्स्येंद्रासनको फल कहें हैं ॥ मत्स्येंद्रेति ॥ प्रचंड दुःसह ऐसे जो रोगनको मंडलरूप समूह ताके छेदन करवेकूं अस्त्रकीसी नाई मत्स्येंद्रासन हे ओर जो नित्य याको आवर्तनरूप अभ्यास करो करैं जिन पुरुषनकूं उदरमें जो जाठराग्नि ताकी प्रकृष्ट वृद्धि

मू० प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः॥२८॥
इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्॥२९

॥ टीका ॥

द्द्मावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चंद्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

पश्चिमतानासनमाह ॥ प्रसार्येति ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रे अग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरि न्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः॥२८॥

अथ तत्फलम् ॥ इतीति ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्नामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

॥ भाषा ॥

देवे हे ओर तेसेंही कुंडलिनी जो आधारशक्ती ताकूं प्रबोध अर्थात् निद्राको अभाव करें हे ओर तेसेंही फिर चंद्र जो तालुवेके उपरि भागमें स्थित नित्य क्षरो करे हे ताकूं क्षरणको अभाव स्थिर करे है ॥ २७ ॥

अब पश्चिमतान आसन कहें है ॥ प्रसार्येति ॥ दोनों हस्त पृथ्वीमें दंडकीसीनाई लंबे करै दोनों पाम लंबे करे भुजानकर दोनों पामनके अग्रभागके दोनों अंगूठा बलतें खेंचे रहै फिर जानूनकें ऊपर ललाटधरकैं स्थित होय जाय ये पश्चिमतान नाम आसन हें ॥ २८ ॥

अथ फलम् ॥ इतीति ॥ पहलें कहे जो आसन तिनमें मुख्य हे यह पश्चिमतान आसन सो सुषुम्नामार्गकरकें बहरह्यो जो प्राण ताय सुषुम्ना कर वहनलगै ऐसो प्राणकूं करदे ओर उदरमें जो अग्नि ताकी वृद्धि करे हें ओर उदरके मध्यदेशमें कृशता करे है ओर आरोग्य करै हे ओर प्रकारतें नाडीवलनादिककूं समान करै है ॥ २९ ॥

मू० धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥
उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदंति पीठम्॥३०॥
हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषाना-
सनं श्रीमयूरम्॥ बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जन-
यति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

॥ टीका ॥

अथ मयूरासनमाह ॥ धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिं अवष्टभ्यावलंब्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतलौ सन्निहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः खे शून्ये दंडवद्दंडेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येदं तत्संबंधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति । योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

मयूरासनगुणानाह ॥ हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदिनी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति हरति नाशयति । श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानालस्यदांश्चाभिभवति तिरस्करोति । बहतिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति । कालकूटं विषं कालकूटवदपकारकान्नं समस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

॥ भाषा ॥

अब मयूरासन कहें है ॥ धरामिति ॥ दोनों भुजा पृथ्वीमें धरकरकैं दोनों भुजानकी मध्य संधिखोनीके यहांतक धारण कियो हे नाभिको पार्श्वभाग जाने ओर उंचो हे आसन जाको पृथ्वीतें उंचो उठ करकैं ऊर्ध्व स्थित जामे होय ताकूं मयूरासन कहें है मयूरके संबंधि कहे हे ॥ ३० ॥

अब मयूरासनके गुण कहे हें ॥ हरतीति ॥ जलोदर प्लीहकूं आदिले सकल रोगनकूं शीघ्र हरे ओर वात पित्त कफ इने ओर आलस्यकूं देवेवारे तिने तिरस्कार करे हे ओर बहोत कुत्सित अन्न भोजन कियो होय ताय भस्म करे ओर जाठराग्निकूं प्रगट करे विषकी समान अपकार करवेवारे अन्नकूं पचायदे ॥ ३१ ॥

मू० उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥
चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

॥ टीका ॥

शवासनमाहार्धेन ॥ उत्तानमिति ॥ शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह । उत्तरार्धेन । शवासनं श्रांतिहरं श्रांतिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रांतिहरं चित्तस्य विश्रांतिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥ ३२ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह ॥चतुरशीतीति॥ शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराच्चतुरशीतिलक्षणानि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । ‘ आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥’ इति । तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति ॥ सिद्धमिति ॥ सिद्धं सिद्धासनं । पद्मं

॥ भाषा ॥

शवासनमाह ॥ उत्तानमिति ॥ शवकीसीनाई पीठ पृथ्वीमै लगाय शयन करजाय निद्रा कीसीनाई स्थित होय सो शवासन आसन है याके करवेको प्रयोजन कहा ये आसन हठाभ्यासके श्रमकूं दूर करे हे ओर चित्तकूं विश्रामको करवेवारो हे ॥ ३२ ॥

कहेंगे च्यार आसन तिनकूं श्रेष्ठपनो कहें हें ॥ चतुरशीतीति ॥ चोराशी लक्ष आसन हें जितने जीवजाती हें तितनेही आसन हें उनके भेद शिवजी जाने हे उनमेंतें चोराशी विख्यात हे चोराशीनमेंतै ग्रहण करकै सारभूत श्रेष्ठ च्यार आसन मे कहूंहूं इनकूं चतुष्क नाम करकै कहे हें ॥ ३३ ॥

सिद्धमिति ॥ सिद्धासन १ पद्मासन २ सिंहासन ३ भद्रासन ४ ये च्यार आसन श्रेष्ठ हें

मू० योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेंढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥ स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

पद्मासनं । सिंहं सिंहासनं । भद्रं भद्रासनं । इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यं तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् । एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

आसनचतुष्टयेप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह ॥ योनिस्थानकमिति॥ योनिस्थानमेव योनिस्थानकं । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् अंघ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरं एकं पादं दक्षिणं पादं मेंढ्रेंद्रियस्योपरिभागे दृढं यथा स्यात्तथा विन्यसेत् । हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमंतरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यं । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानींद्रियाणि येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तथा भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनां । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

विख्यात हें ये सुखके करवेवारे इन च्यारोनमेंतेंबी सुखकारी सिद्धासन हे ये च्यारोनमें श्रेष्ठ हे याए सदा करोकरे ॥ ३४ ॥

च्यारो आसनमें उत्कृष्ट हे यातें प्रथम सिद्धासन कहें हें ॥ योनिस्थानकमिति ॥ गुदा ओर उपस्थ इनको मध्यदेश सो योनीस्थान है वांये पामकी एढी योनीस्थानमें लगाय स्थित करे ऐसेंही जेमनो पाम इंद्रियके ऊपर भागमें एढी लगाय स्थित करे ओर हृदयके च्यार अंगुल उपर चिबुक जो ढोडी स्थित करे विषयनतें इंद्रियनकूं एक अचल-दृष्टी कर भ्रुकुटीको मध्य देखे निश्चय मोक्षको कपाट, ताकूं दूर करे हे ये आसन सिद्धासन नाम कह्यो है ॥ ३५ ॥

मतांतरे तु ॥

मेंढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥
एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥
यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

मत्स्येंद्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह ॥ मतांतरे त्विति ॥ तदेव दर्शयति ॥ मेंढ्रादिति ॥ मेंढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाह ॥ एतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानंति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्ष्णि योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनं । यत्र वामपादपार्ष्णि योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनं । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनं । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेंढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति॥३७॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिता-

॥ भाषा ॥

मत्स्येंद्रसंमत सिद्धासन कह करकें मतांतरके संमत कहें हें ॥ मेंढ्रादिति ॥ उपस्थतें उपरि भागमें वामो गुल्फ धरकरके वामपामके ऊपर दक्षिण पाम धरकें स्थित होय ये सिद्धासन मतांतरके अभिमत हे ॥ ३६ ॥

एतदिति ॥ पूर्व कह्यो जो सिद्धासन ताय सिद्धासन कोई कहें हैं ओर कोई वज्रासनसंज्ञक जाने हें कोई मुक्तासन नाम कहें हें ओर कोई गुप्तासन कहे हैं ॥ ३७ ॥

अब सात श्लोकनकर सिद्धासनकी प्रशंसा करें हें ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमनके

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४१ ॥

॥ टीका ॥

हारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः । 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव । सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

॥ चतुरशीतीति ॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणं । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति॥आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरं । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समास । द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् । योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किं । न किमपी-

॥ भाषा ॥

बीचमे नियमित आहार कीसीनाई ओर नियमनमें अहिंसा कीसीनाई योगी संपूर्ण आसननमें सिद्धासन मुख्य कहें हें ॥ ३८ ॥

चतुरशीतीति ॥ चौराशी आसननमेंसुं सिद्ध ये सिद्धासन हे याये सदां अभ्यास करे क्यों के बहत्तर हजार नाडीनके मैलकूं शोधन करे हे ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति ॥ आत्माये ध्यावे सो आत्मध्यायी ओर प्रमाणको भोजन करे सो मिताहारी ऐसो होय द्वादश वर्षपर्यंत सर्वदा सिद्धासनको अभ्यास करै तो योगाभ्यासी योगसिद्धि प्राप्त होय ओर योगांतराभ्यास विनाहि या सिद्धासनके अभ्यास मात्र कर केंहिं सिद्धि प्राप्त होय ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ जो सिद्धासन सिद्ध होय जाय तो फिर ओर आसन बोहोतनकरकें कहा

मू० उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला॥
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥
नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनं ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा ॥
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥

॥ टीका ॥

त्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाह्लादकत्वाच्चंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति ॥ तथेति ॥ तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् ' पार्ष्णिमार्गेण संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नासनमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं । नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ पद्मासनमाह ॥ वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा

॥ भाषा ॥

कछु नही सावधान होय प्राणवायु पुरकरेचकविना केवल कुंभककर बद्धक होय तो-॥४१॥

तुर्य अवस्था ये आल्हादकूं देवे हे चंद्रलेखाकीसी नाई सो अनायासतेंही आपही प्रगट होय जाय ओर कहे प्रकारकर एक सिद्धासन सिद्ध होय तो बंधत्रय अर्थात् मूलबंध उड्डियानबंध जालंधरबंध ये तीनों बंध अगाडी खोलेगे सो इन तीनों बंधनमें श्रम करे बिना अपने आप तीनों बंध प्रगट होय जाय ॥ ४२ ॥

नासनमिति । सिद्धासनकी समान आसन नही. कुंभकसमान प्राणायाम नही. ओर खेचरीसमान मुद्रा नही. ओर नादसमान लय नही. कहा लयको हेतु नही है ॥ ४३ ॥

अब पद्मासन कहे है ॥ वामोरूपरीति ॥ वाम जो ऊरु ताके ऊपरि दक्षिण चरण स्था-

मू० अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥४४॥
उत्तानौ जरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिव्हया ॥

॥ टीका ॥

वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणांगुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणांगुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरे चिबुकं निधायेति रहस्यं । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

मत्स्येंद्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह ॥ उत्तानाविति ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा । ऊर्वोर्मध्ये उरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तदनंतरं दृशौ दृष्टी-॥ ४५ ॥

नासाग्र इति । नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः ॥

॥ भाषा ॥

पन करकें वाम चरण दक्षिण ऊरूके उपरि स्थापन करकें दक्षिण हस्त पीठमाऊंकर वाम उरूकें उपरि स्थित चरणको अंगुष्ठ ताय ग्रहण करे ओर ऐसेही वामहस्त पृष्ठभाग कर दक्षिण उरूके उपरि स्थित वामचरणको अंगुष्ठ ग्रहण करकें ओर हृदयसमीप ढोडी धरकें नासिकाको अग्र ताय देखे ये योगीनकी व्याधीकूं दूर करे ऐसो पद्मासन सिद्धनने कह्यो है ॥ ४४ ॥

अब मत्स्येंद्रनाथके संमत पद्मासन कहें हैं ॥ उत्तानाविति ॥ ऊरूनमें लग रह्यो हे पृष्ठभाग जिनको ऐसे चरण ऊरूनमें स्थित करकें दोनो हस्त सूधे एढीनके ऊपर पहलें बांयो हस्त ताके ऊपरि जेमनो हस्त धरे ता पीछे दृष्टी-॥ ४५ ॥

नासिकाके अग्रपे निश्चल राखे फिर डाढानको मूल दक्षिण वाम भागमें स्थित दोन

मू० उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतासि ॥ वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

राजदंतानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिव्हया उत्तंभ्य ऊर्ध्वं स्तंभयित्वा । गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिव्हाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः। शनैर्मंदंमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबंधः प्रोक्तः । मूलबंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतव्यः । वस्तुतस्तु जिव्हाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तं । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभं । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्य विशेषमाह ॥ कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे सन्निधाय संनिहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयं । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । 'ओंतत्सदिति निर्देशो

॥ भाषा ॥

भूलस्थानमें जिव्हा कर ऊर्ध्व स्तंभनकरके गुरुमुखतें जिव्हाबंध जाननो योग्य हे. फिर ढोढी वक्षःस्थलमें चतुरंगुल अंतर रहे ऐसी धरकर शनेशने मंदमंद पवन उठाय करके ये मूलबंध हे सोबी गुरुमुखतें जाननो योग्य हे ॥ ४६ ॥

इदमिति । ये पद्मासन कैसो हे सर्वव्याधीनकूं नाश करे हे ये भाग्यहीनकर दुर्लभ हे. पृथ्वीमे पुण्यवान् धीमान् पुरुषोंको प्राप्त होय हैं ॥ ४७ ॥

ये महायोगीनके संमत हे याते ओरबी पद्मासनमें कृत्य विशेष कहें हें ॥ कृत्वेति ॥ दोनों हस्तसंपुटकर गोदमें स्थितकरके फिर अतिस्थिर पद्मासन बांधकर चिबुक कहिये ढोढी

मू० पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनं ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिंतयन् । अपानमनिलं अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणंन्यंचन्नीचैरधोंचन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थोऽचतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुंडलिनीबोधो भवति । कुंडलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति। तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पद्मासन इति ॥ पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणांतर्नीतं मारुतं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानं । नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

सिंहासनमाह ॥ गुल्फौ चेति॥वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह ॥

॥ भाषा ॥

हृदयसमीप स्थितकर ये जालंधर बंध करकें फिर अपने अपने इष्टदेवरूप अथवा ब्रह्म ताय चित्तमें ध्यान चिंतन करत अपानवायु ताय ऊपरि चढावत मूलबंध कर सुषुम्नामार्गकरके प्राण ऊपरि प्राप्त करे ओर पूरक करकें अंतर धारण कऱ्यो जो प्राण ताय नीचें प्राप्त करत प्राण ओर अपना इनकूं ऐक्य करकें पुरुष अतुलबोध ओर नहीं हें उपमा जाकी ऐसो ज्ञान शक्ति अर्थात् कुंडलिनीके प्रभावतें प्राप्त होय ओर प्राण अपानके ऐक्यतें कुंडलिनीको बोध होय हे ॥ ४८ ॥

कुंडलिनीको बोध होतेंही सुषुम्नामार्गकरकें प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जायहे प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जाय हें तब चित्त स्थिर होय तब संयमतें आत्मसाक्षात्कार होय है इत्यर्थः पद्मासनमें स्थित योगी पूरककरकें भीतर प्राप्त हुयो जो वायु ताय सुषुम्नामार्गकरकें मस्तकमें ले जायकर स्थिर करे सो मुक्त होय यामें संशय नाहीं ॥ ४९ ॥

अब सिंहासन कहें हें ॥ गुल्फौ चेति ॥ वृषणके नीचैं सीवनिके दक्षिणभागमें वांये

मू० हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥
बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनं ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्यात्तवक्रः संप्रसारितललज्जिव्हमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

सिंहासनमिति । एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भद्रासनमाह ॥ **गुल्फाविति** ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह । सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

पामकी एडी स्थापन करे ओर सीवनिके वामभागमे दक्षिणपामकी एडी स्थापन करै ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ फिर जानुके उपरि दोनों हस्त ओंधे धरकर अंगुली फेलाया कर मुख फाडकर जिव्हा बहार निकास एकाग्र चित्त होय नासिकाको अग्र ताय देखे ॥ ५१ ॥

सिंहासनमिति । ये सिंहासन केसोहे योगीनमें श्रेष्ठ तिनकर पूजित आसननमें उत्तम सिंहासन सो मूलबंधादिक तीन तिनकूं प्रगट करे हें ॥ ५२ ॥

अब भद्रासन कहें हें ॥ **गुल्फौ चेति**॥ वृषणके नीचे सीवनिके वाम भागमें वाम पामकी एढी धरे ओर सीवनिके दक्षिणभागमें जेमने पामकी एढी धरे ॥ ५३ ॥

मू० पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥
गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥
अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

॥ टीका ॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बध्वा । परस्परसंलग्नांगुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदंति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिंद्रो योगींद्रः ॥ ५५ ॥

अभ्यसेदिति ॥ नाडिकानां नाडीनां शुद्धिं । 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीं । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह ॥ आसनमिति ॥ आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुंभकं 'सूर्यभेदनमुज्जायी' त्यादिवक्ष्यमाणं । मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं । तथा चार्थे ॥ ५६॥

॥ भाषा ॥

पार्श्वपादाविति ॥ फिर पार्श्वसमीप आये जे पाम तिने दोनो भुजानकरकें बांध ले ये भद्रासन केसो हे संपूर्ण व्याधीनकूं विशेषकरके नाश करै हे ये भद्रासनको बंध एकसो हे यामें वामें फरक नहीं हें निश्चय ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धयोगी या भद्रासनकूं गोरक्षासन कहें हें गोरक्षनाथनें अधिककरकें भद्रासनको अभ्यास कियो हे यातें उनके नामतें प्रसिद्ध हे कहे हे जे आसनबंधनप्रकार तिनमें श्रमरहित एसे जो योगींद्र– ॥ ५५ ॥

अभ्यसेदिति ॥ सो नाडीनकी शुद्धी जातें होय मुद्राहे आदि जाकी सूर्यचंद्रभेद जाके एसी प्राणायामरूप जो क्रिया ताय अभ्यासकरे हे ओर चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर मुद्राकरणो ये तीनो हठसिद्धीमें उपकारकें करवेवाली हैं ॥ ५६ ॥

मू० अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

अथेति । अथैतत्त्रयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरवधिमाह ॥ ब्रह्मचारीति ॥ ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अब्दाद्वर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह ॥ सुस्निग्धेति ॥ सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तै । 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदि' ति । शिवो जीव ईश्वरो वा । 'भोक्ता देवो महेश्वरः' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

॥ भाषा ॥

अथेति ॥ आसन । कुंभक । मुद्राकरण । इन तीनोंनके करे पीछे नादको अनुसंधान करनो हठयोगके अभ्यासको अनुक्रम अर्थात् पूर्वापरक्रम येही. हे अब हठसिद्धीकी अवधी कहें हैं ब्रह्मचर्यमे रहे ओर प्रमाणको आहार करे त्यागी दानमें शील होय. ओर विषयनको परित्यागकरे. ओर योगमें परायण होय. योगांगके अभ्यासमें परायण रहे तो वर्षतें ऊपरि हठसिद्ध होय ये कह्यो जो अर्थ तामें विचार संदेहयुक्त नही करनो योग्य हे ये निश्चय हे ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धेति ॥ योगीनको मिताहार केसो होय ? अति स्निग्ध ओर मधुर आहार होय चतुर्थ आहार रहित होय अर्थात् दोय भाग अन्नकर उदर भरे एक भाग जलकरकें भरे एक भाग खाली रहे वायुके चलवेके लियें शिवकहिये जीव वा ईश्वर ताकी प्रीतीके अर्थ जो यारीत भोजन करे सो मिताहारी कहे हें ॥ ५८ ॥

मू० कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ॥
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥
भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६०॥

॥ टीका ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्यां ॥ कट्विति ॥ कटु कारवेल्ल इत्यादि अम्लं चिंचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धं उष्णं गुडादि हरीतशाकं पत्रशाकं सौवीरं कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो झषः । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसं दधि दुग्धपरिणामविशेषः तक्रं गृहीतसारं दधि कुलत्थादिर्द्विदलविशेषः कोलं कोल्याः फलं बदरं । 'कर्कंधूर्वदरी कोलिरि'त्यमरः । पिण्याकं तिलपिंडं हिंगु रामठं लशुनं । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा । आद्यशब्देन पलांडुगृंजनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यं । अपथ्यमहितं । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भोजनमिति । पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनं अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रांतमतिलवणं चाकूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च । लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः

॥ भाषा ॥

अब योगीनको अपथ्य दोन श्लोकोनसें कहे हें ॥ कट्विति कटु निंबादि कडुवो पदार्थ अम्ल आमलीकूं आदिले । तीक्ष्ण मरीचादि लवण उष्ण अतिउष्ण ओर गुडादि हरितशाक पत्रशाक कांजि तैल तिल सर्षप सिरस्यों मद्य सुरा मत्स्य इनें अपथ्य कहें हें. बकरीकूं आदिले इनको मांस दही दूध छाछ कुलथा वेर तिलपिंड लशुन ये हें आदिमे जिनके धीपा गाजर उडदादि ये सब योगीनकूं अपथ्य हें अहित हें ॥ ५९ ॥

भोजनमिति ॥ पहलें पाककर लियो फिर ठंडोजान अग्निके संयोगकर उष्णाकियो जो पदार्थ सो अहित जाननो ओर रूखो घृतरहित अन्न अधिकलवण जामें होय सो ओर अत्यंत भोजन अत्यंत निद्रा अत्यंत भाषण बोलवो बास्यो अन्न दूषित अन्न गंध जामें आयगयो होय एसो अन्न ये सब योगीकूं अहितकारी जाननो ॥ ६० ॥

मू० वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ६१ ॥
तथाहि गोरक्षवचनं ॥
"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम्॥
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥"

॥ टीका ॥

साधुः । तथा च दत्तात्रेयः । 'अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकं ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम् ।' इति । स्कंदपुराणेऽपि। 'त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्' इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तं । अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लं। अत्र तृतीयपदं पललं वा तिलपिंडमिति केचित्पठंति तस्यायमर्थः। पललं मांसं तिलपिंडं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रं उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धं । मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायां । कदशनादीनां समाहारद्वंद्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हं । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि। अहितमिति योजनीयं ॥ ६० ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन ॥ वह्नीति ॥ वह्निश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत् । सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिपदेन सूच्यते । तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति ॥ तथाहीति तत्पठति ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनप्रांतं दुर्जनसमीपवासं । दुर्जनप्रीतिमिति क्वचित्पाठः । वह्निस्त्रीपथिसेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वंद्वः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः। उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च । तथा समुच्चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

॥ भाषा ॥

वह्नीति ॥ योगी अभ्यासकालमें प्रथमही अग्निसेवन स्त्रीसंग तीर्थयात्रादि मार्गमें गमनादिक तिनकूं वर्जित करे जब अभ्यास सिद्ध होय जाय तब कदाचित् शीतकालमें अग्नितपनो ओर गृहस्थ होय तो ऋतुकालमें स्वभार्यागमन तीर्थयात्रादिकमें मार्ग चलनो ये निषिद्ध नही ॥ यामें प्रमाण गोरक्षवचनको हे ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनके पास बेठनो वा दुर्जनतें प्रीती ओर अग्निको संगतपनो ओर स्त्रीसंग ओर मार्गगमन प्रातःकालको स्नान

मू० गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीत-
सितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गा-
दि दिव्यमुदकं च यमींद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥

॥ टीका ॥

अथ योगिपथ्यमाह ॥ गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यंते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारं सिता तीव्रपदी खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायां । मधु क्षौद्रं एषामितरेतरद्वंद्वः । शुंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कोशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं "शेषाद्विभाषे" ति कप्प्रत्ययः । पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकं । तदुक्तं वैद्यके । 'सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं काशपंचकं । जीवंतीवास्तुमूल्याक्षी मेघनाद पुनर्नवा ॥' इति । मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि आदिपदेन आढकी ग्राह्या । दिव्यं निर्दोषमुदकं जलं । यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विंद्रो देवश्रेष्ठो यो योगींद्रस्तस्य पथ्यं हितं ॥ ६२ ॥

अथ योगिनो भोजननियममाह ॥ पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि

॥ भाषा ॥

ओर व्रतादिक फलाहारादिक ये दोनों प्रथम अभ्यासके करवेवालेकूं प्रातःस्नानतें शीतविकारकी उत्पत्ति होय हे उपवासादिकनतें पित्तादिरोगकी उत्पत्ती होय हे ओर कायक्लेशकी करवेवारी क्रिया बोहोतसी सूर्यनारायणकूं नमस्कारादिरूपा वा बहोत भारको उठावनो इत्यादिक सब वर्जित करे ॥ ६१ ॥

अब योगीकूं पथ्यवस्तु कहें हें ॥ गेंहु चांवल जव शाठी चांवल पवित्रअन्न शमा नीवार दूध दही घृत शर्करा माखन मिश्री सहत शूंठी परवर पनस जिमीकंद सूरण रतालु पत्रशाक चोंलाई मूंग अहेड निर्दोष फलादिक ग्रहणकरणो ओर निर्दोष उदक जल ये योगींद्रकूं पथ्य हें हित हें ॥ ६२ ॥

अब योगीकूं भोजनको नियम कहें हें ॥ पुष्टमिति ॥ देहकी पुष्टी करें एसो ओदनादि शर्करासहित होय घृत दूध गौको होय न मिले तो भेसको दुग्धादि ग्राह्य धातुकूं पोषण करें

मू॰ युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥ ६४ ॥
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

॥ टीका ॥

सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यं। धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यं। मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह। योग्यमिति। विहितमेवेत्यर्थः। योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः। न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः॥ ६३ ॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेपारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह॥ युवेति॥ युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा। अभ्यासादासनकुंभकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति। अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि॥ सर्वयोगेष्विति॥ सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतंद्रितोऽनलसः। योगांगाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः। जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः॥ ६४ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्यां॥ क्रियायुक्तस्येति॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिः स्यात्। अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः। ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः

॥ भाषा ॥

लड्डु पूआदिक मनकूं रुचि करे सोही योगीकरकें भोजनकरनो योग्य हे योग्य होय अयोग्यवस्तू हे मनवांछित हे तो नही भोजन करे ओर सक्तुही खायकर रहजाय अथवा चनादिक खायकेंही निर्वाह करलें एसो योगी कदापि नही करे॥ ६३ ॥

युवेति॥ युवान होय वृद्ध होय अतिवृद्ध होय आसन कुंभकादिकनके अभ्यास करतें सिद्धि समाधि प्राप्त होय हे ओर सर्व योगमें योगांगमें आलस्यरहित होय अभ्यासतेंही सिद्धि होय हे॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्येति॥ योगयोगके अंगनकी क्रिया ताकरकें युक्त ताकूं योगसिद्धी होय हे ओर जो क्रियारहित हें ताकूं केंसें सिद्धी होय? नही होय ओर योगशास्त्रके केवल पाठमात्रकरकें योगकी सिद्धि नही होय इत्यर्थः॥ ६९ ॥

मू० न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥
पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥
॥इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयो-
गींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनं
नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्यान्नेत्याह ॥ नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नेति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह ॥ क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह ॥ पीठानीति॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि कारणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां टीकायां प्रथमोपदेशः॥१॥

॥ भाषा ॥

नेति ॥ योगसिद्धीको कारण वस्त्रादिक धारणकर वेष बनाय लेनो ये नही हे अथवा योगकी कथा कहलेनों ये सिद्धीको कारण नही हे सिद्धीको कारण क्रियाकरनो येही हे ये सत्य हे यामें संदेह नही हे ॥ ६६ ॥

पीठानीति ॥ चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर उत्कृष्ट महामुद्रादिक ये हठसिद्धीमें प्रकर्षकरकें कारण हें हठाभ्यासमे आसन कुंभक मुद्रा ये संपूर्ण राजयोगफल प्राप्त होय तब तलक करनो योग्य हे ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ज्योतिर्विच्छ्रीधरकृतभाषाटीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

मू० अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह ॥ चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते । वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यंतं जी-

॥ भाषा ॥

आसनको उपदेश कहे के अनंतर प्राणायाम कहवेकूं आरंभ करें हें ॥ अथेति ॥ जा योगीके आसन दृढ होय गयो होय इंद्रिय जानें जीत लीनी होय पूर्व कह्या ये ऐसो पथ्य हितकारी प्रमाणको आहारको करवेवालो होय सो योगी गुरूनकर उपदेश दियो जो मार्ग ताकरकें प्राणायाम अभ्यास करे ॥ १ ॥

अब प्राणायामको प्रयोजन कहें हे ॥ चले वात इति ॥ जो वायु चलायमान होय तो चित्तबी चलायमान होय ओर जो वात निश्चल होय तो चित्तबी निश्चल होय जाय ओर जो वात ओर चित्त ये निश्चल होय तो योगी स्थिर दीर्घजीवी होय वा ईशभाव प्राप्त होय तातें वायू जो प्राण ताय रोके ॥ २ ॥

यावदिति ॥ शरीरमें जबतांई वायु स्थित हे तबतांई जीवन हे ता प्राणको देहकौ वि-

मू० मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥
प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया ॥

॥ टीका ॥

वनमुच्यते लोकैः । देहप्राणसंयोगोस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रांतिर्देहाद्वियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह ॥ मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात् । अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वामाह ॥ शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्कले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

मलशुद्धिःकथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह । प्राणायाममिति। यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसा-

॥ भाषा ॥

योग होय जब मरण कहें हें तातें वायुको निरोध कुंभक करे ॥ ३ ॥

मलाकुलास्विति ॥ मलनकरकें नाडी व्याप्त होय तब पवन सुषुम्ना नाडीकरके नहीं चले फिर उन्मनीभाव अर्थात् तूर्य अवस्थामें कैसें प्राप्त होय फिर मोक्षकी सिद्धी कैसें होय कै मलशुद्धी विना नही होय ॥ ४ ॥

शुद्धिमेतीति ॥ जा कालमें मलनकरकें युक्त समस्त नाडीनको समूह सो मलरहित होय जाय तब योगाभ्यासी प्राणवायुके ग्रहण करवेमें समर्थ होय है ॥ ५ ॥

मलशुद्धी कैसें होय ये अपेक्षा हुई तब मलशोधक प्राणायाम कहैं है ॥ प्राणायाममिति ॥ मलशुद्धीविना प्राणके ग्रहण करवेमें समर्थ नहीं होय तातें ईश्वरके ध्यानमें

मू० यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥ ६ ॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

हसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्धया नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्यां ॥ बद्धपद्मासन इति ॥ वद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येडया पूरयेत् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा । भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगालया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

प्राणमिति॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य ग्रहीत्वा शनैर्मंदंमंदमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पूनर्भूयश्चंद्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

उत्साह साहसादिक यत्न करवेसें विक्षेप करवेवाले आलस्यादिक राजस तामस ये दूर होय प्रकाश और प्रसन्नता करवेमें शील स्वभाव जाको एसी सात्विक बुद्धिकरकें नित्य प्राणायाम करे जा प्रकारकरकें सुषुम्नानाडीमें स्थित जो मैल हैं ते नाशकूं प्राप्त होय हें ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासन इति ॥ कियो हे पद्मासन जाने एसो योगी प्राणवायुकूं चंद्रनाडी जो इडा ताकरकें पूरण करें फिर यथाशक्ति धारणकरकें फिर रेचक करे सूर्यनाडी पिंगलाकरकें बोहोत यत्नतें बाहारके वायुकूं ऊपर ग्रहण करे ताकूं पूरक कहे हें और जालंधरादिकबंधपूर्वक प्राणकूं रोकनो ताकूं कुंभक कहें हें फिर वो धारण कियो जो वायु ताकूं यत्नविशेषतें अर्थात् होलें होलें छोडै ताकूं रेचक कहें हें ॥ ७ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्यनाडी पिंगलाकरकें प्राणकूं खेंचकरकें मंदमंद उदरमें पूरक करे

मू० येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥
प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥१०॥

॥ टीका ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह ॥ येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वा त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यंतेन । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनै रेचयेन्न तु वेगतः ॥ वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिंडीकृत्यानुवदन्प्राणायामस्यावांतरफलमाह ॥ प्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बध्वा कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः । "देवताद्वंद्वे च" त्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवंति ॥ १० ॥

॥ भाषा ॥

फिर विधिवत् बंधपूर्वक कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडा ताकरकें रेचन करे ॥ ८ ॥

येनेति ॥ जा चंद्रकरकें अथवा सूर्यकरकें रेचन करे ताईकरकें पूरण करे अति रोधकरकें धारण करे जब तलक प्रस्वेद कंपा होय तब तांई फिर जाकरकें पूरक करे तातें अन्य नाडीकर शनै शनै रेचक करे वेगतें रेचक नकरे वेगतें रेचक करवेमें बलकी हानि होय जाकरकें पूरक करे ताकरकें रेचन नही करवो योग्य हे ओर जाकरकें रेचक करे ताकरकें पूरक कर्त्तव्य हे ॥ ९ ॥

प्राणमिति ॥ इडा जो वामनाडी ताकरकें प्राणकूं पूरक करे फिर कुंभक कियो जो प्राण ताय फेर दूसरी पिंगलाकरकें दक्षिण नाडीकरकें वायू रेचन करे फिर दक्षिण

मू॰ प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥
कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥

॥ टीका ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह ॥ प्रातरिति ॥ प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्घटिकात्रयपर्यंते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे संध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्त्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वारत्रयं कृताश्चेच्चत्वारिंशदधिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति॥११॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह ॥ कनीयसीति ॥ कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं

॥ भाषा ॥

जो पिंगला ताकरकें वायू पूरण करकें फिर कुंभक करे फिर वाम इडाकरकें रेचक करे सूर्य चंद्रमाकी ये पूर्व कही जो विधि ताकरकें नित्य जो अभ्यास चंद्रकरकें वायू पूरनो कुंभक कर सूर्यकरकें रेचन कर देतो ओर सूर्यकरकें वायू पूरनो कुंभक कर फिर चंद्रकरकें रेचन करनो यारीतसुं अभ्यास करवेवारे योगी तिनकी नाडीनके समूह तीन मासतें ऊपरि शुद्ध होय हें ॥ १० ॥

अब प्राणायामके अभ्यासको काल ओर प्राणायामकी अवधि कहे हें ॥ प्रातरिति ॥ अरुणोदयतें लेकर सूर्योदयतें तीन घडीपर्यंत प्रातःकाल होय हे सो प्रातःकालमें ओर मध्यान्हकालमें दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग होय तामें संध्या सूर्यास्तके पहलेंकी तीन घडी तीन घडी पीछेंकी सायंसंध्या होय हे सो संध्याकालमें ओर अर्द्धरात्रीमें मुहूर्तद्वय समयमें इन च्यारों समयमें एक एक कालमें अशी ८० अशी प्राणायाम करनो योग्य है अर्धरात्रिमें करवेकूं असमर्थ होय तो संध्यातांई कर्तव्य हे दिनदिनमें च्यारों समयके ३२० प्राणायाम होय हें ओर जो तीनपोतहीं करे तो २४० प्राणायाम होय हें ॥ ११ ॥

कनीयसीति ॥ कनिष्ठ प्राणायाममें पसीना आवे हे ओर मध्यम प्राणायाममें कंप

मू० उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मरंध्रमाप्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबंधयेन्नितरां बंधयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिंगपुराणे । 'प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः ॥ मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनिसंविज्ञिरंगमोटनकंपनम् । भ्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।' इति । घूमश्चित्तांदोलनम् । गोरक्षोऽपि। 'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥' उद्घातलक्षणं तु । 'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ।' मात्रामाह याज्ञवल्क्यः । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंदपुराणे ।' एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते । 'एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ । निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालप्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति । अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते । न च पूर्वोदाहृतलिंगपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शंकनीयं । 'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति च स्कंदपुराणात् ।' अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' इति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटि-

॥ भाषा ॥

होय हे उत्तम प्राणायाममें ब्रह्मरंध्र प्राप्त होय हे तातें योगी वायुकूं निरंतर बंध करै ओर कछूक कम बेंयालीस विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ प्राणायाम काल ओर कछूक ऊन चोराशी विपल कुंभक रहे सो मध्यम प्राणायाम काल ओर बंधपूर्वक एकसो पच्चीस विपल कुंभक रहे ताकूं उत्तम प्राणायाम काल कहें हें जब प्राणायाम स्थिर

मू० जलेन श्रमजातने गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

कात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिंतामणौ । प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे । 'प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहाराद्विषट्केण धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणं । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते ॥' इति ॥ तथा । 'धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मक कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः काल । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंत तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा ध्यानं । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह ॥ जलेनेति ॥ श्रमात्प्राणायामा-

॥ भाषा ॥

होय तब प्राण ब्रह्मरंध्रकूं प्राप्त होय हें ओर ब्रह्मरंध्रमें गयो जो प्राण पच्चीस पलपर्यंत स्थित रहे तब प्रत्याहार कहें हें ओर जब पच्चीस पलतांई स्थित रहे तब धारणा होय हे ओर जब छ घडीतांई स्थिर रहे तब ध्यान होय हे और जब बारह दिनतांई स्थित रहे तब समाधि होय हे ॥ १२ ॥

जलेनेति ॥ प्राणायामके अभ्यास तें हुयो जो पसीना ताकरकें शरीरको मर्दन तैला-

मू० अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥
प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

भ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात् । तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह ॥ अभ्यासकाल इति । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराजभोजनं । शाकपार्थिवादिवत्समासः । केवले कुंभके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह ॥ यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हंति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह ॥ प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिबंधयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रो-

॥ भाषा ॥

भ्यंगकीसीनांई करे ता मर्दनकरकें शरीरकूं दृढता और लघुता नाम जडताको अभाव होय हे ॥ १३ ॥

अभ्यास काल इति ॥ योगी प्रथम अभ्यासकालमें दूध घृत इनकर युक्त भोजन करे. और केवल कुंभकसिद्ध अभ्यास दृढ होय जाय तब नियमको कछु आग्रह नहीहे १४

यथेति । जा प्रकारकरकें सिंह वनहस्ती शार्दूल ये शनैं शनैं वशीभूत होय हें इनके सहसा नही होय है ओर या प्रकारकरकें सेवन कर्‍यो जो वायूसे वशीभूत होय हे अन्यथा सहसा ग्रहण करे तो साधककूं सिंहादिकनकीसीनाई नाश करे ॥ १५ ॥

प्राणायामेति । आहारादिक युक्त जालंधरादिक बंधयुक्त प्राणायामकरकें सर्व रोगनको

मू० हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं चपूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

गाणां क्षयो नाशोभवेत् । अत्युक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवंतीत्यपेक्षायामाह ॥ हिक्केति ॥ हिक्काश्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदना विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवंत्यतः किं कर्तव्यमत आह ॥ युक्तं युक्तमिति ॥ वायुं प्राणं युक्तं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्नीयात्कुंभयेत् । एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्यां ॥ यदा त्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यातदा बाह्यतो बा-

॥ भाषा ॥

क्षय होय हे ओर जो युक्ति कही हें उन युक्तीकर रहित जो योगाभ्याससहित प्राणायाम ताकरकें सर्व रोगनकी उत्पत्ति होय हे ॥ १६ ॥

हिक्केति । हिचकी श्वास कास मस्तक कर्ण नेत्र इनमें वेदना ओर नाना प्रकारके रोगज्वरादिक वायुके कोपकर होय हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तमिति ॥ वायुकूं रेचनकालमें शनैंशनैं रेचन कर वेग करे नही ओर पूरक अल्पबी नही करे ओर अधिकबी नहीं करे योग्य योग्य करे ओर जालंधरबंधादियुक्त योग्य ही कुंभक करे या प्रकार करे हठसिद्धी प्राप्त होय हे ॥ १८ ॥

नाडी शुद्धीनकूं लक्षण दो श्लोकोंनसें कहे हे॥यदा त्विति॥जब नाडीनकी शुद्धि होय

मू० यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ २० ॥
मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥
धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥

॥ टीका ॥

स्तानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यपि चिह्नानि भवंतीत्यर्थः । तान्येवाह ॥ कायस्येति ॥ कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कांतिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

यथेष्टमिति । वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्याज्जायते ॥ २० ॥

मेदआद्याधिक्ये उपायांतरमाह ॥ मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राक् तु प्राणायामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतु माह । दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥२१

षट् कर्माण्युपदिशति ॥ धौतिरिति ॥ स्पष्टम् ॥ २२ ॥

इदं रहस्यमित्याह ॥ कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं

॥ भाषा ॥

हे तब बहार चिन्ह होय हें देहकूं कृशता ओर कांति निश्चैही होय हें ॥ १९ ॥

यथेष्टमिति । वायुकूं बोहोत वेर कुंभकमें धारण करे तो जाठराग्निको दीपन होय नादकी प्रगटता ओर आरोग्य ये सर्व नाडीनकी शुद्धीतें होय हे ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेद श्लेष्म दोनो अधिक जाके होय वो पुरुष प्राणायामके अभ्यासतें पूर्व षट्कर्म अगाडी कहेंगे तिनें करे ओर जो वात पित्त कफ इनकोही समको भाव होय मेद श्लेष्म ये अधिक जाके नही होय सो न करे ॥ २१ ॥

अब षट्कर्म कहें हें ॥ धौतिरिति॥ धौति१ बस्ति२ नेति ३ त्राटक४नौलिक ५ कपाल

मू० विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ॥

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ २४ ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥

॥ टीका ॥

करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयं । यतः ॥ विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्जेतेति भावः ॥ एतेनेदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितं । मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् । तदुक्तं । ‘ षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।’ इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥ २३ ॥

धौतिकर्माह ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खंडं ग्राह्यं । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदंमंदं किंचित्किंचिद्ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयं । एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् ॥ २४ ॥

पुनरिति ॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथि-

॥ भाषा ॥

भाति ६ ये षट्कर्मके नाम हें ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिति ॥ ये षट् कर्म गुप्त करवेके योग्य हे शरीरके मैलकूं दूर करे हे ओर चित्र विचित्र गुण करवेकूं स्वभाव जाको सो उत्तम योगिनकरकें सत्कार कियो जाय हे२३

अब धौतिकर्म कहें हे ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चार अंगुल चोडो ओर पंद्रह अंगुल लंबो ओर कछूक उष्ण जलकरकें आर्द्र होय सूक्ष्म होय नवीन पगडीको टूक होय ऐसो वस्त्र ले फिर गुरूने दिषायो वस्त्रग्रास करवेको प्रकार ताकरके मंद मंद किंचित् किंचित् ग्रास करे द्वितीय दिन दो हाथ तृतीय दिन तीन हाथ ऐसें नित्य एक हाथ या दो हाथ ग्रास करे२४

पुनरिति । ता वस्त्रको प्रांत कहिये एक विलस्तको छोड पिछाडीको ताय दांतनके बीचमें

मू० कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥ २५ ॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥
नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

तं सिद्धैः । धौतिकर्मणः फलमाह ॥ कासश्वासेति ॥ कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वंद्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च ॥ २५ ॥

धौतीति ॥ धौतिकर्मणः प्रभावेन गच्छंत्येव न संशयः । निश्चितमेतदित्यर्थः । अथ बस्तिकर्माह । नाभिदघ्नेति ॥ नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नं । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंश नालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् । अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनं । आधारस्याकुंचनं यथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अंतः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं बस्तिकर्मोच्यते । धौतिबस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यं । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव बस्तिकर्माभ्यसंति । तथा करणे सर्वं जलं बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा बस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २६ ॥

॥ भाषा ॥

दाव होठसुं लगाय फिर नौलीकर्म करे नौलीके करवेसु वस्त्र छातीपे जमोहुयो नीचे उदरमें उतर जाय फिर वस्त्रकूं उदरमें भ्रमाले नोलीसुई भ्रम जाय पुनः शनैं शनैं वस्त्रकूं निकासे ये धौतिकर्म कहें हें याके करेतें कास श्वास प्लीह कुष्ठादिक विषरोग हें ते ओर कफ रोग— ॥ २५ ॥

धौतिति । ये सर्व रोग धौतिक कर्मके प्रभावकरके निश्चेही दूर होंय॥अब बस्तिकर्म कहें हें ॥ नाभिदघ्नेति ॥ नाभिमात्र जलमें स्थित होय छोटी अंगुली जामें माय जाय इतनों छिद्र होय और छै अंगुल लंबो ऐसो एक वांसको नाल लेकरकें च्यार अंगुल गुदामें प्रवेश करे ओर दो अंगुल बहार राखै फिर उत्कटासन करकें आधारकूं आकुंचनकर जल भीतर प्रवेश होय फिरवा जलकूं नौलीकर्म कर भ्रमाय त्याग करे ये बस्तिकर्म हे धौ-

मू० आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥
गुलमप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥
धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म॥२८

॥ टीका ॥

बस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम् ॥गुल्मप्लीहोदरमिति॥ गुलमश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वंद्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्वे आमया रोगा बस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयंते नश्यंति ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले बस्तिकर्म जलबस्तिकर्म ॥ कर्तृ । दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः । धातवो रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेंद्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिव्हाघ्राणानि पंच ज्ञानेंद्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा। अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणं । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात्। दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः२८

॥ भाषा ॥

ति बस्तिकर्म ये दोनो भोजनतें पूर्व करनो योग्य हे ये करे पीछें भोजनमें विलंब नही करनो योग्य हे ॥ २६ ॥

आधारेति । अब बस्तिकर्मके गुण दोयश्लोकनसें कहें हें।।गुल्मप्लीहोदरमिति॥ गुल्म प्लीह जलोदर वात पित्त कफ इनतें उत्पन्न हुये सकल रोग ते बस्तिकर्मके प्रभाव कर नाश होय हे ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ जलमें बस्तिकर्मकूं अभ्यास करे ताकै सात धातू रस असृक् मांस मेद अस्थी मज्जा शुक्र ये और पांच ज्ञानेंद्री पांच कर्मेंद्री और अंतःकरण मन बुद्धी चित्त अहंकार इनके ताप विक्षेप शोकादि मोह गौरव आवरण दीनता राजसतामसका धर्म ये सब निवृत्त होय हें ओर प्रसन्नता कांती जाठराग्निदीप्ती ताय देवें हें ओर समस्त जे वात पित्त कफ तिनकी वृद्धि दूर करें हें ओर आरोग्यता करे हे ॥ २८ ॥

अथ नेतिः ॥

सू० सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहंति च॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

अथ नेतिकर्माह॥सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यं । सुस्निग्धंसुष्ठु स्निग्धं ग्रंथ्यादिरहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यं । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वात्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवं । सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासाबहिःस्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रांतं प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तं । 'अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः' इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

नेतिगुणानाह ॥ कपालशोधिनीति ॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां

॥ भाषा ॥

अब नेतीकर्म कहें हैं ॥ सूत्रमिति ॥ विलस्त मात्र सचिक्कण होय ग्रंथ्यादि रहित होय ऐसो सूत्र लेनो वा नो गुणो दश गुणो पंद्रह गुणो दृढ ग्रहण करनो फिर नासिकामें प्रवेश करे फिर मुखमेंतें निकासे याको प्रकार ये हे सूत्रको अंत नासिकामें प्रवेशकरके दूसरी नासापुट अंगुलीकरकें रोककर पूरक करे फिर मुखकरकें रेचन करे वांरवार ऐसें करे तो मुखमें सूत्रको छोड आय जाय वो सूत्रको छोड और नासिकाके बहार स्थित जो सूत्रको छोड ये दोनो छोड पकडकरकें शनै शनै चलावे ये नेती सिद्धननें कही हे ॥ २९ ॥

अब नेतीके गुण कहें हें ॥ कपालशोधिनीति ॥ ये नेती क्रिया कपालके मैलकूं शुद्ध करे हे और नासिकादिकनके मैलकूं बी दूर करे हे और सूक्ष्म पदार्थ जासुं दीख-

अथ त्राटकम् ॥

मू० निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया जत्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहंति । चकारः पादपूरणे । 'स्कंधो भुजशिरो ऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणि ।' इत्यमरः ॥ ३० ॥

त्राटकमाह ॥ निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक्च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यंतं । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येंद्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

त्राटकगुणानाह ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयं । गोपने दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

नलमे ऐसी दिव्यदृष्टि देवे हे और कंधानकी संधीके ऊपरले भागमें उत्पन्न हुयो जो रोगनको समूह ताय दूर करे हे ॥ ३० ॥

अब त्राटक कहें हें ॥ निरीक्षेदिति ॥ एकाग्र चित्त होय निश्चल दृष्टीकर सूक्ष्म लक्ष्य जो कछूही पदार्थ ताय देखो करे जब तलक जल नेत्रमें नही आवे तब तलक देखो करे नेत्रमें जल आवे तब बंध होय जाय मत्स्येंद्रादिकनने ये त्राटक कर्म कह्यो हे ॥ ३१ ॥

अब त्राटकके गुण कहें हें ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रके रोगनकूं नाशको करवेवालो हे और आलस्य बहोत निद्रादिकनके कपाटसरीखो हे. ओर तंद्राकूं अर्थात् तमोगुणी चित्तकी वृत्ती जो क्रोधादिक तिनकूं दूर करे है. ओर जैसें सुवर्णकी पेटीकूं छिपायके राखें हें तेसेंही या त्राटक कर्मकूं बडे यत्नतें गोप्य राखे ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः ॥

मू० अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ ३३ ॥
मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ३४
भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥

॥ टीका ॥

अथ नौलिकर्माह ॥ अमंदेति ॥ नतौ नम्रीभूतांवंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुंदमुदरं । 'पिचंडकुक्षी जठरोदरं तुंदं स्तनौ कुचौ ।' इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद्भ्रमंतं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्ष्यते कथ्यते॥ ३३ ॥

नौलिगुणानाह ॥ मंदाग्नीति ॥ मंदश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यगुद्दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदैवानंदकरी सुखकरी । अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिबस्त्योर्नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

अथ कपालभातिं तद्गुणं चाह ॥ भस्त्रावदिति॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाध-

॥ भाषा ॥

अब नौलि कहें हें ॥ अमंदेति ॥ नीचे करे हें दोनो कंधा जाने ऐसो पुरुष अधिक जो जलको भ्रमर ताकीसीनाई वेगकरकें उदरकूं वांयो जेमनो भागकरकें भ्रमावे सिद्धनकरकें नौलि ये कही हें ॥ ३३ ॥

नौलीके गुण कहे हें ॥ मंदाग्नीति ॥ मंद जाठराग्नीकूं बढायवेवाली और भोजन कियो जो अन्न ताके परिपाकादिकनकूं करवेमाली और आनंदके करवेवाली और समस्त जे दोष रोग वातादिकनकूं सुकायवेवारी हठकी क्रिया धौत्यादिक तिनमें मुकुटकीसीनाई उत्तम हे और धौती और बस्ती इन दोनोनमें नौली करणी पडे हे यातें ये नौली कही है ॥ ३४ ॥

अब कपालभाति और याके गुण कहें हें ॥ भस्त्रावदिति ॥ लुहारकी धोंकनी कीसी-

मू० कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥
षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥

॥ टीका ॥

नीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सहवर्तमानौ ससंभ्रमावमंदौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने । ‘ कफरोगाश्च विंशतिः ’ इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह ॥ षट्कर्मेति ॥ षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वं । कफदोषा विंशतिसंख्याका मलादयश्च यस्य स तथा ‘शेषाद्विभाषा’ इति क प्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः।प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति । योग इति शेषः । षट्कर्माकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह ॥ प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामैरेव । एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यंति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् इति हेतोः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षटकर्म न संमतं नाभिमतं । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे । ‘ आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयेदपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ ’ इति ॥ ३७ ॥

॥ भाषा ॥

नाई शीघ्र जो रेचक पूरक करे ताकूं कपालभाति कहें हें और ये कपालभाति कफके दोष वीश हे तिने सुखायवेवारी हे ॥ ३५ ॥

षट्कर्मेति । धौतिकूं आदिले जो षट् कर्म तिनकरकें निकसे हें स्थूल भाव कफ दोष मलादिक पित्तादिक जाके ऐसो होय फिर प्राणायाम करे इनके करेतें विना श्रमकरें योग सिद्ध होय हे ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरिति । प्राणायामनकर संपूर्ण मैल दूर होय हें और याज्ञवल्क्यादिकनके और कर्मरूपी ये षट्कर्म संमत नही हें. ॥ ३७ ॥

मू० उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ३८
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥
यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

॥ टीका ॥

गजकरणीमाह ॥ उदरगतमिति ॥ अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतः प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं परयोद्वमंत्युद्गिरंति यया योगिन इत्यध्याहारः। क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा। सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते। क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग इति क्वचित्पाठस्तस्यायमर्थः क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याः शंखिन्या मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि। किमुतान्य इत्यर्थः। त्रिदशा देवाः अंतयतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन्। तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वा-

॥ भाषा ॥

अब गजकरणी कहे हें ॥ उदरगतमिति ॥ अपान जो वायु ताकूं कंठनालमें चढाय फिर उदरमें प्राप्त हुयो जो भुक्तपीत भोजन पान कियो अन्न जलादिक ताय निकाल डारे या क्रमकरकें जो अभ्यास ताकरकें वशीभूत हे नाडीनको समूह जामें ऐसी क्रिया सो हठके जानवेवारे योगीनकरकें गजकरणी कही हे ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा हें आदिमें जिनके ऐसे देवता तेबी कालके भयतें पवनाभ्यासमें तत्पर होते भये. तातें पवनाभ्यास करे ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ जबतांई वायु शरीरमें रुको रहे. जबतांई अंतःकरण व्याकुल नही

मू० विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥
तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वंति कुंभकान् ॥

॥ टीका ॥

सक्रियाशून्यः। यावच्चित्तमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम्। यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः। दृशिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः। तावत्तावत्कालपर्यंतं कलयतीति कालोऽतकस्तस्माद्भयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः। तथा च वक्ष्यति। 'खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा। साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥' इति। स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

विधिवदिति॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति। सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति। यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठुस्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था। मनोन्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः। तथाग्रे वक्ष्यति। 'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना॥४२॥

विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह। **तत्सि-**

॥ भाषा ॥

होय. जबताई भ्रुकुटीनके मध्यमें दृष्टी रहे. तबताई कालतें भय कहांतें होयहे तो नहीं ही होयहे ॥ ४० ॥

विधिवदिति ॥ आसन जालंधरबंधादिक विधियुक्त जो प्राणायाम तिनकरकें नाडीनको समूह शुद्ध होय जब वायु इडा पिंगलाके मध्यमै सुषुम्ना नाडी ताको मुखभेदकरके सुषुम्नाके भीतर सुखपूर्वक प्रवेश करे हे ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ जब वायु सुषुम्नाके भीतर गमन करे तब मनकूं स्थैर्य होय हे अर्थात ध्यानके योग्य आकारमें वृत्तिप्रवाह होय हे जो मनकूं स्थिर भाव होय सोहि मनोन्मनी अवस्था कहें हें तूर्य अवस्थाकूं उन्मनी और मनोन्मनी अवस्था कहें हें ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धय इति ॥ और जे कुंभकके अनुष्ठान प्रकारकूं जाने हें ते उन्मनी अवस्था

मू० विचित्रकुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः ॥

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः ॥ ४४ ॥
पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डिनायकः ॥ ४५ ॥

॥ टीका ॥

द्धयइति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धये उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुंभकान्कुर्वंति । विचित्राश्च ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमंत्रतपोजातां । तदुक्तं भागवते । 'जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥' इति । आप्नुयात्प्रत्याहारादिपरंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

अथाष्टकुंभकान्नामभिर्निर्दिशति ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुंभकादावुड्डियानकस्तु कुंभकांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्न-

॥ भाषा ॥

की सिद्धिके अर्थ विचित्र जें सूर्यभेदनादि भेदकरकें नानाप्रकारके कुंभक तायकरें हें और विचित्र कुंभकके अभ्यासतें विचित्र सिद्धी प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

अब कुंभकके भेद कहें हें ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ सूर्यभेदनं १ उज्जायी २ सीत्कारी ३ सीतली ४ भस्त्रिका ५ भ्रामरी ६ मूर्छा ७ प्लाविनी ८ ये आठ कुंभक हें ॥ ४४ ॥

पूरकांत इति ॥ आदिमें मूलबंध करे फिर पूरकके अंतमें शीघ्रही जालंधरबंध करे नाड नीचीकर ठोडीकूं हृदयके ऊपरि स्थापन करनो ये जालंधरबंध हे और कुंभकके अंतमें कछूक कुंभक शेष रहे रेचककी आदिमें उड्डीयानबंध करे यत्नतें नाभीकूं पीछें खेंचनों ये उड्डियान बंध हे ॥ ४५ ॥

मू० अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

॥ टीका ॥

विशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानं तानमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यं । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिव्हाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिव्हाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिव्हाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यं । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जात इति ॥ ४६ ॥

॥ भाषा ॥

अधस्तादिति ॥ अधोदेशतें मूलबंध कर आधारको आकुंचनकरकें फिर जालंधरबंध करे फिर उड्डियानबंध करे इन तीनो बंधकरकें वायु ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना ताय प्राप्त होय. ओर ये रहस्य कहें हें जो गुरुमुखतें जिव्हाबंध जाननो तो जिव्हाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकेंही प्राणायाम सिद्ध होय हे. और वायुप्रकोप नही होय आधीन देह रहे कृश रहे मुख प्रसन्न रहे ये सर्व चिन्ह होय हें मूलबंध उड्डियानबंध उपयोगी नही हे. इन दोनोनकूं जिव्हाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकें सिद्ध होय जाय. और जो जिव्हाबंध नही आतो होय तो ‘ अधस्तात् कुंचनेन ’ या श्लोकमें कही जो रीती ता रीती कर प्राणायाम करनो योग्य हैं तीनो बंध गुरुमुखतें जाननो योग्य हे. और मूलबंध अछीतरें नही जानते होय तो नानारोगनकूं प्रगट करे. विना आये जो मूलबंध करे तो धातुक्षय विष्टंभ अग्नीको मंदपनो नादको मंदपनो और गुटिकाके समूह आकार होय

मू० अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

अथ सूर्यभेदनम् ॥

आसने सुखदे योगी बध्वा चैवासनं ततः ॥

॥ टीका ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठादधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि ' पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बंधानां स्वरूपमुक्तम् । 'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डियानबंधो भवत्येवेत्यस्मिञ्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायां । मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति ' इति ॥ ४७ ॥

' योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये । उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् । शौचं कृत्वा दंतशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम् ॥ २ ॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु । तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् । अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये । अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥ ४ ॥ मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः । ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् । अंते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्य-

॥ भाषा ॥

बकरियाकीसी मेंगनी होय तब ये मूलबंध अछी तरें नही जानें हे. ऐसो जाननो जब धातु पुष्ट होय सुंदर मैलकी शुद्धी होय जाठराग्निकी दीप्ती होय सुंदर नादकी प्रगटता होय तब जाननो मूलबंध सुंदर जाने हे ॥ ४६ ॥

अपानमिति ॥ अपानवायुकूं ऊपर उठायकरकें आधारकूं आकुंचनकरकें वायुकूं कंठतें नीचै लेजाय वो योगी वृद्ध अवस्थातें छूटकें षोडश वर्षकोसो होय जाय ॥ ४७ ॥

आठ प्रकारके कुंभक तिनमें प्रथम सूर्यभेदन और याके गुण कहें हें ॥ आसन

मू० दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

सेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुंभकात्पूर्वमभ्यसेत् । जालंधरप्रसादार्थं कुंभकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं कृत्वा कर्मांगं प्राणसंयमम् । योगींद्रादीन्नमस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यं । 'नमस्कृत्याथ योगींद्रान्सशिष्यांश्च विनायकं । गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥ बध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुंभकाबंधपूर्वकम् । प्रथमे दश कर्तव्याः पंचवृद्ध्या दिनेदिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यंतं कुंभकाः सुसमाहितैः । योगींद्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चंद्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य बंधपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः । भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्नवापरान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्बध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम् । ततः पद्मासनं बध्वा कुर्यान्नादानुचिंतनम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः । मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनं ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवंगं वा भोजनांते च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छंति तांबूलं शोभनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनां ॥ १७ ॥ इति चिंतामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते नहि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानंतरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ २२ ॥' अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं

॥ भाषा ॥

इति ॥ योगी सुखदेवे ऐसो पवित्र देश तामें स्थित होय आपको आसन स्थिर होय अत्यंत ऊंचो नही होय अति नीचो नही होय एकांतमें सुखपूर्वक आसनमें स्थित होय फिर स्वस्तिकासन वीरासन सिद्धासन पद्मासन औरबी आसन हैं सबमें मुख्य आसन सिद्धासन हे ताय बांधकरकें आसन बांधेके पीछें दक्षिणभागमें स्थित नाडी पिंगलाकरकें देहतें बहार वर्तमान वायु ताय शनै शनै खेंचकरकें पूरक करें ॥ ४८ ॥

मू० आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥

॥ टीका ॥

सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः ॥ **आसन** इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे ।'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥' इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरं' इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनं आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बध्वैव बंधनेन संपाद्यैव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबंधानंतरं दक्षादक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मंदंमंदमाकृष्य पिंगलया मंदंमंदं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आकेशादिति ॥ केशाना मर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्राना मर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत् । केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः । ननु 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् ॥ करोति शास्त्रनिर्देशान्न च तं परिलंघयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः ॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपग-

॥ भाषा ॥

आकेशादिति ॥ केशपर्यंत नखाग्रपर्यंत वायुको निरोध करे अर्थात अतियत्नकर कुंभक करे तो रुको हुयो वायु रोमनमेंसुं निकस देहकूं विदीर्ण करे हे और कुष्ठादि रोगकूं प्रगट करे हे. जेसें वनमें हाथि सिंघ इनकूं होलेहोले पकडे रीतसुं तो सुखपूर्वक पकडले और जो जल्दी करे तो दुःख होय जाय पकडवेमेबी नही आवे ऐसेंही यत्नकरकें कुंभक करे ॥ औ में शीघ्रही प्राणवायुको जय करूंगो या बुद्धीकर बहुत अभ्यासमें परायण होय यातें कह्यो वनके हाथी कीसीनाई क्रमतें करे और कहुं ऐसोबी कहें हें अतियत्नकरकें कुंभक करे जेसो अधिक करे तेसो गुण अधिक होय जेसो जेसो शिथिल कुंभक होय तेसो तेसो गुण अल्प होय यामें योगीनको अनुभव प्रमाण हे पूरक तो शनें शनें करनो योग्य हे अथवा वेगतेंबी करे तो दोष नहीं और रेचक तो शनें शनें वेगतें रेचक करे तो बलहानी होय यातें वामनाडी जो इडा ताकरकें वायुकूं मंदमंद रेचक करे ॥ ४९ ॥

मू० कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥
अथोज्जायी ॥
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥

॥ टीका ॥

च्छति' इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्यारंभः॥ एवंच बव्हभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टांतस्वारस्याच्च । अत एव सूर्याचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथायथातियत्नेन कुंभकः क्रियते तथातथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथायथा च शिथिलः कुंभकः स्यात्तथातथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानं । पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः । वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ततः शनैशनैःरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैशनैःमंदंमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तं । 'विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते ॥' इति॥४९॥

कपालशोधनमिति॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् । पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यं । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चंद्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तं । योगिभिरिति शेषः ५०

उज्जायिनमाह सार्धेन ॥ मुखमिति ॥ मुखमास्यं संयम्य संयतं कृत्वा

॥ भाषा ॥

सूर्यभेदनके गुण कहें हें ॥ कपालशोधनमिति ॥ मस्तककी शुद्धी करे हे और वातें उत्पन्न हुये जे अशी दोष तिने दूर करे हे. और उदरमें पडगये जे कीडा तिनके विकार दोषनकूं दूर करे हे. यातें ये वारंवार करे सूर्यकरकें पवनपूरक करे चंद्रकरकें वायुकूं रेचन करे यारीतकर उत्कृष्ट हे योगीनकरकें प्रथम सूर्यभेदन कह्यो हे ॥ ५० ॥

अब दूसरो उज्जायिकुंभक कहें हें ॥ मुखमिति ॥ मुख मूंदकरकें पवन कंठतें ले कर

मू० पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

मुद्रयित्वेत्यर्थः । कंठात्तु कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथा स्यात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मंदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

पूर्ववदिति॥प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । 'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ।' इत्युक्तरीत्या कुंभयेद्रोधयेत् । ततः कुंभकानंतरमिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत् । उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन॥श्लेष्मदोषहरमिति॥ कंठे कंठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः ॥५२॥

नाडीति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंताद्देहे वर्तमाना धातव आधातवः । एषामितरेतरद्वंद्वः । तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यं । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधरहितः कर्तव्यः । कुंभकशब्दस्त्रिलिंगः । पुंलिंगपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिंगः पाठः कार्यः ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

हृदयपर्यंत शब्दसाहित लगे ऐसो इडाकरकें पिंगलाकरकें वायुकूं शनैं शनैं खैंच करके पूरक करे फिर केशपर्यंत नखपर्यंत कुंभक करे ता पीछैं इडा जो वांई नासिका ताकरके रेचन करे ॥ ५१ ॥

उज्जायीके गुण कहें हें ॥ श्लेष्मदोषहरमिति ॥ कंठमें कफके दोष तिनें हरे हे. और देहमें भीतर जाठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ५२ ॥

नाडीति ॥ नाडीमें जलकी व्यथा देहमें वर्तमान धातूनमें दोष विकार ताय नाश करे और गमन करे और स्थित होय ता पुरुषकरकें उज्जायी करनो योग्य हे ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ॥

मू० सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

सीत्कारीकुंभकमाह ॥ सीत्कामिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दःसीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरंतरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकःकार्यइत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानंतरमपि न कार्यं । बलहानिकरत्वात् । विजृंभिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५४ ॥

योगिनीति ॥ योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिःप्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तुमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं कफादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

अब तीसरो सीत्कारी कुंभक कहें हें ॥ सीत्कामिति ॥ मुखमें ओष्ठनके मध्यमें लगी जिव्हा ताकर सीत्कारकरकें पवनकूं मुखकर पूरक करे फिर दोनो नासिकाके पुटनकरकें रेचक करे और मुखकरकें वायुको निकासनो अभ्यासके पीछेबी नही करनो बलकी हानी करे हे, यातें विजृंभिका रेचक करे अर्थात् मुख नही खोले दोनो नासिका कर रेचन करनो याकूं विजृंभिका रेचक कहें हें. और कुंभक यामें कह्यो नही हे तोबी सीत्कार पूरककर कुंभक करले और या प्रकार वारंवार करेंतें रूप लावण्यकी अधिकताकर दुसरे कामदेव कीसीनाई होय जाय ॥ ५४ ॥

योगिनीति ॥ योगिनीयोनके समूहकूं सेवन करवेकूं योग्य होय. और सृष्टिसंहारको कर्ता हों. और क्षूधा तृषा निद्रा आलस्य ये नही होंय ॥ ५५ ॥

मू० भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥
अथ शीतली ॥
जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ५७ ॥
गुल्मप्लीहादिकान् रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥
विषाणि शीतलीनाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

भवेदिति ॥ देहस्य शरीरस्य सत्वं बलं च भवेत् । अनेनोक्तेन विधिनाभ्यासविधिना योगींद्रो योगिनामिंद्र इव योगींद्रो भूमिमंडले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम् । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः॥५६॥
शीतलीकुंभकमाह॥ जिव्हयेति । जिव्हयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव।' अव्ययसर्वनाम्नां– ' इत्यकच् । पवनं वायुं रेचयेत्॥५७॥
शीतलीगुणानाह ॥ गुल्मेति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषयजनितविकारान् । शीतलीनामेति प्रसिद्धार्थिकमव्ययं । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति । कुंभशब्दःस्त्री-

॥ भाषा ॥

भवेदिति ॥ शरीरकूं बल होय और कही जो ये अभ्यासविधि ताकरकें योगीनमें इंद्र कीसीनाई पृथ्वीमें सर्वोपद्रवर्जित होय जो ये कह्यो हे सो फल सत्य हे ॥ ५६ ॥
अब चोथो शीतलीकुंभक कहें हें ॥ जिव्हयेति । पक्षींकी नीचली चोंचकी समान अपनी जिव्हा होठनके बहार निकास वायुकूं खेंचके पूरकरकें फिर पहलें सूर्यभेदनमें कह्यो तेसेंही कुंभकको साधन करे फिर सुंदर हे बुद्धी जाकी सो नासिकाके छिद्रनकरके शनै शनै वायुकुं रेचक करे ॥ ५७ ॥
शीतलीके गुण कहें हें ॥ गुल्मेति । गुल्म प्लीह ये रोग हें आदिमें जिनके ऐसे रोग और ज्वर पित्तको विकार और भोजनकी इच्छा जलपानकी इच्छा और सर्पके काटेको विष औरबी विष इन सबनकूं ये शीतलीनाम कुंभिका दूर करे हे ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका ॥

मू० ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥
सम्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

॥ टीका ॥

लिंगोऽपि । तथा च श्रीहर्षः । ' उदस्य कुंभीरथ शातकुंभजा ' इति ॥ ५८ ॥

भस्त्राकुंभकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह ॥ ऊर्वोरिति ॥ उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधःप्रदेशे ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनं । अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानबाचकं । तथा च कारकेषु मनोरमायां 'उपर्युषरि बुद्धीनामि'-त्यत्रोपरिबुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥ ५९ ॥

भस्त्रिकाकुंभकमाह ॥ सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरं । प्राण्यंगत्वादेकवद्भावः । समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राजस्यै कतरेण रंध्रेण प्राणं शरीरांतःस्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६० ॥

रेचकप्रकारमाह ॥ यथेति ॥ हृच्च कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे । समाहारद्वंद्वः । कपालावधि कपालपर्यंतं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण

॥ भाषा ॥

अब पांचमो भस्त्राकुंभकको भेद कहें हें ॥ ऊर्वोरिति ॥ ऊरूनके उपरि दोनों पामनके तलुआ उत्तानपूर्वक स्थापनकरकें स्थित होय ये पद्मासन हे केसो हे संपूर्ण पापनके नाशको करवेवालो हे ॥ ५९ ॥

सम्यगिति ॥ समान हे ग्रीवा उदर जाके सुंदर हे बुद्धी जाकी एसो पुरुष स्थिर पद्मासन बांधकरकें मुख मूदकरकें यत्नसुं नासिकाके एकमाऊंकें रंध्रकर वायुकूं रेचक करे ॥ ६० ॥

कपालपर्यंत शब्दसहित हृदय कंठमें वायुलगे तेसो रेचन करे फिर हृदयकमलपर्यंत वेगकरकें वायुकूं पूरक करे ॥ ६१ ॥

मू० पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥
धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

॥ टीका ॥

लगति । प्राण इति शेषः । तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममनधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६१ ॥

पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनः पुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टांतमाह ॥ यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

तथैवेति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह ॥ यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले । यथेति ॥ ६३ ॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतमि' त्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह ॥ धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

॥ भाषा ॥

पुनरिति ॥ पहलें कीसीनाई फिर रेचक करे फिर पूरक करे फिर रेचक करे जैसें लुहार चामकी धोकनीकूं जैसे वेगकरकें चलावे हे तैसेंही वेगकर पूरक रेचक करे ॥ ६२ ॥

यदा श्रम इति ॥ पूरक और रेचक इनको निरंतर एसें आवर्तन करतें करतें जा कालमें देहमें श्रम होय ताई कालमें जा प्रकार कर वायुकरकें शीघ्रही उदर भर जाय ता प्रकारकर सूर्यनाडीकरकें पूरक करे ॥ ६३ ॥

धारयेदिति । पूरक करे पीछें अंगूठाकरकें जेमनी नासापुट रोककरकें और अनामि-

मू॰ विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥
वातपितश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६८ ॥

॥ टीका ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चंद्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत् । भस्त्राकुंभकस्यैवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः । श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत् । पश्चादिडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्राबज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः । वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् । एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद्भस्त्रावत् । पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः । भस्त्रिकागुणानाह ॥ वातपित्तेति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्हरतीति तादृशं शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६८ ॥

॥ भाषा ॥

का कनिष्ठिकाकरकें वाम नासापुटकूं रोककरकें दृढ नासिकाग्रहण करे ॥ ६४ ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वक कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडानाडी ताकरकें वायुकूं रेचक करे या भस्त्राकुंभककी ये रीत हे सो जानो वांई नासिकापुटकूं दक्षिण भुजाकी अनामिकाकनिष्ठिकाकर रोक ले फिर दक्षिण नासिकाके पुटकरकें धोंकनीकीसीनाई वेगकरकें रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तब ताई नासापूटकरकें पूरक करे अंगूठाकर जेमनी नासिका मूंदकरकें जेसी शक्ति होंय तेसो कुंभक करे फिर इडाकरकें रेचक करे फिर दक्षिण नासापूटकूं अंगूठाकूं रोक वाम नासापुटकरकें धोंकनीकीसीनाई शीघ्रही रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तो वांई नासिकापुटकरकें फिर पूरक करे फिर अनामिका कनिष्ठिकाकर वामनासापुट रोककरकें कुंभक करे फिर पिंगलाकर रेचक करे ये एक-

मू० कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति । क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण हितौ । शीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यं । ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः । 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति ॥' इति तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६६ ॥

॥ भाषा ॥

रीति हे अब दुसरी रीति कहें हें वाम नासापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकाकर रोककर दक्षिण नासिकाके पुटकर पूरककरकें शीघ्रही अंगुठासुं रोककर वांई नासिकाके पुटकर रेचक करे या प्रकार सोपोत करे फिर श्रम होय तो वाईकरकें पूरक करे बंधपूर्वक पूरककरकें इडाकरकें रेचक करे दक्षिण नासिकाको पुट अंगूठाकरकें रोककर वाम नासापुटकर पूरककरकें शीघ्र वामनासिकापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकासुं रोककरकें पिंगलाकरकें रेचक करे धोकनीकीसीनाई वारंवार एसेंकरकें रेचक पूरक कर श्रम होय तो वामनासापुटकरकें पूरककरकें अनामिकाकनिष्ठिकाकरकें कुंभक कर पिंगलाकरकें रेचक करे ये दूसरी रीति हे भस्त्रिकाके गुण कहें हें ॥ वात पित्त श्लेष्म इनें दूर करे हें और शरीरमें जठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ६९ ॥

कुण्डलीति॥ और शीघ्रही कुंडली सूतीकूं बोधकरे हे और पवित्रको करवेवारो हे सुखको करवेवारो हे और त्रिदोषकूं हरे हें यातें सर्वको हितकारि हे और सब कुंभकनकूं हितकारी हे कैंसें सो कहें हें सूर्यभेदन उज्जायी ये दोनो उष्ण हे शीतकालमें करे हितकारी हें और सीत्कारी और शीतली ये दोनों शीतल हें ये गरमीनमें अधिक हितकारी हें और भस्त्राकुंभक ये समान हे शीत उष्ण जामे एसो हे सब समे हितकारी हे और सबलें सबलें कुंभक सर्व रोगकूं हरें हें सूर्यभेदन तो बोहोत करकें वात रोगकूं हरे हे और उज्जायी अधिक कर

मू० सम्यग्गात्रसमुद्भूतंग्रथित्रयविभेदकम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ॥

वेगाद्धोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ॥
योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ६८

॥ टीका ॥

सम्यगिति । सम्यग्दृढीभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकं । अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भ्रामरीकुंभकमाह ॥ **वेगादिति** ॥ वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा। भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तत्तथा मंदंमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभकस्तु भ्रामर्याः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ। एवमुक्तरीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगींद्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनंदे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

॥ भाषा ॥

श्लेष्मकूं हरे हे, और सीत्कारी शीतली ये दोनो पित्तकूं हरे हे. और भस्त्राख्य कुंभक त्रिदोषकूं हरे ये जानना. और ब्रह्मकूं प्राप्तकी करवेवारी हे. यातें सुषुम्नाकूं ब्रह्मनाडी कहे हें ता सुषुम्ना नाडीके मुखमें अर्थात् अग्रभागमें स्थित जो कफादिकरूप जो आगल वायुकी गतीकूं रोकवेवाली ताकूं नाश करे हे ॥ ६६ ॥

सम्यगिति । दृष्ट शरीरमें जो सुषुम्ना नाडी तामें उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथी ब्रह्मग्रंथी विष्णुग्रंथी रुद्रग्रंथी तिनकूं विशेषकरकें भेदन करे हे यातें ये भस्त्रानामककुंभक हे. सो अवश्य करनो योग्य हे. और सूर्यभेदनादिक जेसो बने तेसोई करनो ॥ ६७ ॥

अब छटो भ्रामरीनाम कुंभक कहें हें ॥ **वेगादिति** ॥ जो पूरक वेगसुं करे तो भ्रमरकोसो नाद होय हे और जो होले करे तो भ्रमरीकोसो नाद होय हे. जो वेगसूं भ्रमरकोसो नाद जामें होय तेसो पूरककरकें फिर भ्रमरीकोसो नाद जामें तेसो मंदमंद रेचक करे रेचक पूरक इनकी विशेषता हे यातें येही लिखे हें और पूरकके पीछें कुंभकतो भ्रामरीकूं कुंभक स्वभावसिद्ध हे यातें विशेष नहीं लिख्यो या रीतकर अभ्याmove सके योगतें योगींद्रनके चित्तमें नही कहवेमें आवे एसी आनंद लीला होय हे ॥ ६८ ॥

अथ मूर्छा ॥

मू० पूरकांते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

अथ प्लाविनी ॥

अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥
प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः ॥
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

॥ टीका ॥

मूर्छाकुंभकमाह ॥ पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बध्वा शनैर्मंदंमंदं रेचयेत् । इयं कुंभिका मूर्छनाख्या मूर्छना इत्याख्या यत इति मूर्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्छयतीति मनोमूर्छा एतेन मूर्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम्।पुनः कीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा॥६९॥

प्लाविनीकुंभकमाह ॥ अंतरिति ॥ अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमंतात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति७०

अथ प्राणायामभेदानाह ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतःसंचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन । 'प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति' । रेचकश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा

॥ भाषा ॥

अब सातवो कुंभक मूर्छानाम कहें हें ॥ पूरकांते इति ॥ पूरककरके अंतमें जालंधरनाम बंध बांधकरकें शनैं शनैं रेचक करे ये कुंभिका मूर्छनानाम हे मनकुं मूर्छा करे हे जासुं मनोमूर्छा कहे हें केसी हे ये सुखके देनेवाली हे ॥ ६९ ॥

अब आठवो प्लाविनीकुंभक कहें हें ॥ अंतरिति ॥ शरीरके भीतर भर्‍यो जो अधिक वायू ताकरकें च्यारोंमेंरतें भर लियो हे उदर जानें एसो पुरुष अगाध जलमें कमलके पत्र कीसीनाई सुखतें गमन करे ॥ ७० ॥

अब प्राणायामके भेद कहें हें ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राण जो शरीरके भीतर वायू ताकूं रोकनो जाकूं प्राणायाम कहें हें. सो प्राणायाम रेचक पूरक कुंभक इन भेदनकर तीन प्रकारको हे उदरमें तें वायुकूं रेचन करे ताकूं रेचक कहें हें और बहारतें वायुकूं उदरमें भरे ताकूं पूरक कहे हें. और पूरककरकें वायुकूं घटकीसीनाई धारण करे

मू० यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः । 'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति रेचकप्राणायामलक्षणं । 'निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन।निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचकोनाम महानिरोधः॥' पूरकलक्षणं॥ 'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ।' पूरकप्राणायामलक्षणं। 'बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥' कुंभकलक्षणं। 'संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् ।' अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः । भिन्नस्तु । 'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥' अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः । सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तं । 'आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुंभकः ।' तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः । पूरकपूर्वकः कुंभकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकप्राणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्या ॥ ७१ ॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह ॥ यावदिति ॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धि-

॥ भाषा ॥

ताकूं कुंभक कहें हें और कुंभक दो प्रकारको हे एक सहित और दूसरो केवल ये योगीनके संमत हे, तामें सहित दो प्रकारको हे रेचकपूर्वक और कुंभकपूर्वक. रेचकपूर्वक रेचक प्राणायामतें न्यारो नही हे. पूरकपूर्वक कुंभक पूरक प्राणायामतें अभिन्न हे. केवल कुंभक कुंभक प्राणायामतें न्यारो नही हे. ये पहलें सूर्यभेदनादिक कहे हें. उनमेंसूं पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जान लेनो योग्य हे ॥ ७१ ॥

यावदिति ॥ केवलकुंभककी सिद्धी जबतलक होय तबतलक सहित कुंभक सूर्यभेदादिक करे सुषुम्नाके भेदनके पीछें सुषुम्नाके भीतर घटकोसो शब्द होय तब केवल कुंभक सिद्ध होय ताके पीछें सहित कुंभक दश करे फिर बीस करे एसे अश्शीसंख्या तक करनो फिर सामर्थ्य होय तो अश्शीतें अधिक करे अब केवलकुंभकको लक्षण कहें हें ॥ रेचक पूरक त्यागकरकें सुखपूर्वक वायूकुं धारण करे सो केवलकुंभक कहें हें ॥ ७२ ॥

मू० प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं रहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवंति तदा केवलकुंभकः सिद्ध्यति तदनंतरं सहितकुंभका दश विंशतिर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकैरेव कर्तव्या । सति सामर्थ्ये केवलकुंभका अशीतेरधिकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह ॥ रेचकमिति ॥ रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

॥ प्राणायाम इति ॥ स वै मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसंति ॥ केवल इति ॥ रेचो रेचकः रेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

नेति॥तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वापि न विद्यते । तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः ॥ शक्त इति ॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

राजेति ॥ राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः।कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह ॥ कुंभकादिति ॥ कुंभकात्कुंभकाभ्या-

॥ भाषा ॥

प्राणायाम इति ॥ रेचक पूरक इनकरकें वर्जित केवल कुंभक सिद्ध होय जाय॥ ७३ ॥

नेति ॥ ता योगीकूं तीनों लोकनमें दुर्लभ कछू नही हे केवल कुंभकके अभ्यासकरके समर्थ होय यथायोग्य वायूके धारण करे तें ॥ ७४ ॥

राजेति । राजयोग पद प्राप्त होय हे यामें संदेह नही हे. निश्चय होय. और कुंभककें अभ्यासतें कुंडलनी जो आधार शक्ति ताको बोध होय. और कुंडलनीके बोधतें निद्रा आलस्यादिक मिटे हें ॥ ७५ ॥

मू० अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममा निष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६ ॥
कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

सात्कुंडल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभंगो भवेत् । कुंडल्या बोधः कुंडलीबोधस्तस्मात्कुंडलीबोधतः ॥ ७५ ॥

अनर्गलेति ॥ सुषुम्नानाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह ॥ हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्याति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमा मर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचदशांगरूपं दशांगरूपं च । वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह ॥ कुंभकेति ॥ कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिष्वि' ति कोशः । राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

और सुषुम्नानाडीके कफादिक आगल दूर होय जाय. और हठसिद्धि होय कहां मोक्ष होय. हठयोग विना राजयोगसिद्धि नही होय. और राजयोग विना हठयोग नही सिद्ध होय और राजयोगसिद्धि न होय तबताई हठयोग और राजयोग ये दोनोनको अभ्यास करे ॥ ७६ ॥

कुंभकेति ॥ कुंभककरकें प्राणको रोकनो ताके अंतमें चित्तकूं आश्रयरहित करे. या रीत कर अभ्यासयोगकरकें राजयोगपद ताय प्राप्त होय ॥ ७७ ॥

१०

मू० वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥७८

इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह ॥ वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

वपुःकृशत्वमिति ॥ देहकूं कृशता होय और मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रगटकता नेत्र निर्मल होय और रोगरहित होय धातुको जय होय उदरमें जाठराग्नीकी दीप्ती कहा वृद्धि होय. और नाडीनकी शुद्धि होय ये हठयोगको लक्षण है ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां भाषाव्याख्यायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

मू० सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह ॥सशैलेति॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासां । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनं । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्यां ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुंडलीकूं सर्व उपायनको आधार कहें हें ॥ सशैलेति ॥ जेसें पर्वत वन नगर ग्रामसहित जो पृथ्वी तिनको आधार सर्पनके नायक शेषजी हे तेसेंही संपूर्ण जो योगके उपाय तिनकी कुंडली आधार हे विना कुंडलीके जागें सब योगनके उपाय व्यर्थ होय हें ॥ १ ॥

अब कुंडलीके जागवेको फल कहें हें ॥ सुप्तेति ॥ सूति हुई कुंडली गुरूनके अनुग्रहकरके जाग उठै तब संपूर्ण जे षट्चक्र ते भेदकूं प्राप्त होंय हें याके पीछें ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथि ये तीनो ग्रंथिभेदनकूं प्राप्त होंय हें ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तव सुषुम्ना नाडी वायुकूं राजमार्गकीसीनाई आचरण करे हें और

मू० सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥
महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

सुषुम्नापर्यायानाह ॥ सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

मुद्रा उद्दिशति । महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्यां ॥ इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च

॥ भाषा ॥

तब चित्तबी निर्विषय होय है. और तब काल जो मृत्यु ताकूंबी तिर जाय अर्थात् मृत्युकूं बचायजाय ॥ ३ ॥

सुषुम्नेति ॥ सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्र महामार्ग श्मशान शांभवी मध्यमार्ग ये सुषुम्नाके पर्यायवाचक शब्द हे ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ कुंडलीके बोधतें षट्चक्रभेदादिक होय हैं तातें संपूर्ण यत्नकरकें ब्रह्मको द्वार सुषुम्ना ताको मुख कहा अग्रभागमें सुषुम्नाको द्वार ताय रोककर सूती हुई जो कुंडली ताय प्रकर्षकरकें बोध करवेकूं महामुद्रादिकनको अभ्यास करे ॥ ५ ॥

महामुद्रेत्यादिना ॥ महामुद्रा १ महाबंध २ महावेध ३ खेचरी ४ उड्डीयान ५ मूलबंध ६ और जालंधर नाम बंध ७ ॥ ६ ॥

विपरीत नाम जाको एसी करणी ८ वज्रोली ९ शक्तिचालन १० ये दश मुद्रा हैं

मू० आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ७ ॥

आदिनाथेनेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितं । दिवि भवं दिव्यमुत्तमं । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः ।२ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुत्तरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ।४। प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणं । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषांमित्यर्थः ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

जरामरणकूं नाश करें हें ॥ ७ ॥

और ये दिव्य आदिनाथ जो शिवजी तिननें कह्योहुयो मुद्रानको दशक हे. सो आठ ऐश्वर्य अणिमा १ महिमा २ गरिमा ३ लघिमा ४ प्राप्ति ५ प्राकाम्य ६ ईशिता ७ वशिता ८ ये आठ सिद्धि हें इनें देवे हे ॥ अब इन आठों सिद्धिनके लक्षण कहें हें ॥ योगीके संकल्पमात्रकरकें प्रकृति दूर होय जाय. परमाणुकीसीनाई देह सूक्ष्म होय जाय ताकूं अणिमा कहें हें ॥ १ ॥ और जो प्रकृतिके आपूरकरकें अर्थात् प्रकृतीकूं अपने भीतर भर ले फिर आकाशादिककीसीनाई स्थूल महान् होय जाय ताकूं महिमा कहें हें ॥ २ ॥ बोहोत हलको रुईकूं आदिलेके तिनकूं पर्वतादिकनकोसो भारीपन होनो ताकूं गरिमा कहें हें ॥ ३ ॥ जो भारी पर्वतादिक हें तिनकूं रुईकीसीनाई लघु कहा हलको होय ताकूं लघिमा कहें हें ॥ ४ ॥ और जो सर्व पदार्थ सन्निध होय जाय अर्थात् जेसें पृथ्वीमें तो ठाडो होय और अंगुलीके अग्रकरकें चंद्रमाकूं स्पर्श करे ताकूं प्राप्ति कहें हें ॥ ५ ॥ और इच्छाको अनभिघात जेसें जलमें डूबे निकसि आवे तेसें पृथ्वीमें कदी दीखवें दीखवे लगे जानो कदी नही दीखनो ताकूं प्राकाम्य कहें हें ॥ ६ ॥ और भूत भौतिक पदार्थनको जन्ममरणकी

मू० गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

॥ अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं । गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टांतः । कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत्॥९॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह ॥ पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः । योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

रचना करवेमें समर्थ होय ताकूं ईशता कहें हें ॥ ७ ॥ और भूत भौतादिकनकूं अपने आधीन करणो ताकूं वशित्व सिद्धि कहें हें ॥ ८ ॥ इनकूं देवेवारो हे और सिद्ध जो कपिलादिक तिनकूं प्रिय हे मरुत् जे देवता तिनकूंबी दुर्लभ हे ॥ ८ ॥

यथेति ॥ जेसें रत्नकी पेटीकूं गोप्य राखें हें तेसेंहि गोप्य राखे काहूंकूं कहे नही जेसें कुलकी स्त्रीके मैथुन संगमकूं नही कहे हे. तेसें येबी नही कहवेकूं योग्य हे ॥ ९ ॥

अब पहली महामुद्राकूं कहें हें ॥ पादमूलेनेति ॥ वामपादकी एडीकरकें गुदा शिश्नइंद्री इनको मध्यम भाग जो योनिस्थान ताय रोककरकें जेमनो पाद फेलाय लंबो करदे पृथ्वीमें एडी लगाय अंगुली ऊंची दंडकीसीनाई करकें अंगुठा तर्जनी कर दक्षिण पामको अंगूठा पकड धारण करे ॥ १० ॥

कंड इति ॥ फिर कंठमें जालंधर बंध बांधकरकें फिर वायूकूं उपरि सुषुम्नामें धारण करे

मू० ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥
ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥

॥ टीका ॥

वायुं पवनमूर्ध्वंत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिव्हाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । दंडाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति॥तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव।ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति ॥ द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थमाह । महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच त आदयो

॥ भाषा ॥

या कर मूलबंधबी होय हे जहां योनिस्थानकूं पीडन करकें जिव्हा बंधनकरकें मूलबंध होय जाय. जेसें सर्प दंडके प्रहारकरकें दंडाकार त्याग कर सरल होजाय हे तेसेंही जानने ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तेसेंही कुंडली जो आधारशक्ति सो शीघ्रही सरल होय और कुंडलीके बोधतेंही सुषुम्नामें प्रवेश प्राणको होय हे दोनोनकूं प्राणके वियोगतें इडा पिंगला ये दोनों हे आश्रय जाके एसी मरणावस्था होय हे ॥ १२ ॥

ततइति ॥ इयमिति ॥ ता पीछें शनैं शनैं रेचन करे वायुकूं वेगतें नहीं करे बलकी हानि होय हे यातें ये महामुद्रा आदिनाथादिक महासिद्धननें दिखाई हे महाक्लेश अविद्या रागद्वेषादिक शोकमोहादिकनके दोष क्षीण होय हें. और मरण जरादिक तेबी क्षीण होय

मू० महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥
चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह ॥ **चंद्रांग** इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रागं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततःसंख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

॥ भाषा ॥

यातें बडे बडे ज्ञानी याये महामुद्रा कहें हें ॥ १३ ॥ १४ ॥

या महामुद्राको अभ्यासक्रम कहें हें ॥ **चंद्रांग** इति ॥ चंद्रांग जो वामांग तामें अभ्यासकरकें फिर सूर्यांग जो दक्षांग तामें अभ्यास करे और वामांगके अभ्यास करे पछि जबताईं वामांगमें कुंभकके अभ्यासकी संख्या समान होय तावत् पर्यंत अभ्यास करे और जब संख्या समान होय जाय तापीछें महामुद्रा विसर्जन कर दे यामें ये क्रम हे वांये पामकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकर जेमने पामकूं लंबो फेलाय वाके अंगूठाकूं तर्जनी अंगुली अंगूठासूं पकडकरकें अभ्यास करे ताकूं वामांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूर्‍यो जो वायू सो वामांगमें स्थित रहे हे और फिर जेमने पामकूं समेट वाकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकरकें वांयो पाम लंबो कर वाके अंगूठाकूं आकुंचित तर्जनी अंगूठासूं पकडकर अभ्यास करे ताकूं दक्षिणांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूर्‍यो हुयो जो वायू सो दक्षांगमेंही रहे है ॥ १५ ॥

मू० नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥
क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित् ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः ॥ नहीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्तेयातयामाः पदार्था जीर्यंते । घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयेति॥यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥१७॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह ॥ कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा क-

॥ भाषा ॥

महामुद्राके गुण कहें हें ॥ नहीति ॥ महामुद्राके अभ्यासीकूं पथ्य अपथ्यको विचार नही तातें संपूर्ण रस कटु अम्लादिक जो भोजन करे सोई जीर्ण होय जाय और रस जाको सूक गयो होय एक दो दिनको होय पदार्थ सो जीर्ण होय जाय और दुर्जर होय घोर विष भोजन कियो होय सोबी अमृतकीसीनाई जीर्ण होय ॥ १६ ॥

क्षयेति ॥ जो पुरुष महामुद्राकूं अभ्यास करे ताकूं क्षयरोग कोढ गुल्मरोग अजीर्ण ये हें अग्रमें जिनकें एसे ज्वरादिक प्रमेह उदररोग एसे एसे रोगदोष नाशकूं प्राप्त होय ॥ १७ ॥

कथितेति ॥ अभ्यासके करवेवाले मनुष्यनकूं महान् सिद्धि आणिमादिक तिनकी करवेवाली ये महामुद्रा मेनें कही हे ये गोप राखनो योग्य हे जाकाऊ अनधिकारीकूं नही देनो योग्य हे ॥ १८ ॥

मू० पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥
इति महाबंधः ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

थितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चा-णिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोप-नार्हा यस्यकस्याचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

महाबंधमाह॥पार्ष्णिमिति॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णि गुल्फयो-रधोभागम् । 'तद्ग्रंथी गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमे-ढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं-

॥ भाषा ॥

अब दूसरी महाबंध मुद्रा कहे हे ॥ पार्ष्णिमिति ॥ वांये पामकी एडी योनि-स्थानमें लगायके फिर वांये पामको ऊरु ताके उपरि जेमनो पाम धरकरकें ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ता पीछैं वायुकूं पूरककरकें फिर हृदयमें ढोडी दृढ लगायकरकें ये जालंधरबंध कह्यो और वा एडीकरकें योनिस्थानकूं नेंक दाबकें याकरकें मूलबंध कह्यो मनकूं मध्यनाडीमें प्रवर्त करे ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ यथाशक्ति कुंभककरकें फिर मंद मंद वायुकूं रेचक करे फेर वामांगमें आवर्तनकरकें फिर दक्षिणांगमें जितनें तुल्य संख्या होय तितनें अभ्यास करे ॥ २१ ॥

मू० मतमत्र तु केषां चित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥
कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥

॥ टीका ॥

मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह ॥ मतमिति ॥ केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किंतदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदंतस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः॥२२॥

अयंत्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन ' बध्नाति हि शिराजालमि ' ति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् महाबंधस्य फलमाह ॥ अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण तदातीति तथा ॥ २३ ॥

कालेति॥कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण

॥ भाषा ॥

मतमिति ॥ कोई आचार्यनको मत ये हे कहा जालंधर बंधमें कंठको बंध ताय विशेष कर वर्जित करे अर्थात् ढोढीकूं हृदय पे स्थापित नही करनो क्यों राजदंत जो अग्रदंत सामनेई दो दांत हें तिनकूं राजदंत कहें हें राजदंतमें स्थित जो जिव्हा तामें बंध दांतनके ऊपर जिव्हाकूं लगानो ये प्रशस्त हे ॥ २२ ॥

अयंत्विति ॥ ये जो जिव्हाबंध हे सो सुषुम्नानाडीरहित जे संपूर्ण बहत्तर हजार नाडी तिनके ऊपर वायुकी गतीको निरोध करे हे याकरकें नसाजाल बंध जाय हे तातें ही जालंधरबंध कहें हे. अब याको फल कहें हें ये महाबंध महासिद्धी देवें हे ॥ २३ ॥

कालेति ॥ और मृत्युकी पाशकरकें जो बंधन ताकूं दूर करवेमें निपूण इडा पिंगला सु-

मू० त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥
रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ॥

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धी' त्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह ॥ रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तं 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवांतरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । 'विनापि प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्य' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

महावेधमाह ॥ महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिम्

॥ भाषा ॥

षुम्ना इन तीनो नदीनको संगम ताय धारण करे हें और मनकूं केदार जो भ्रुकुटीनके बीचमें शिवस्थान ताय प्राप्त करे हे ॥ २४ ॥

रूपेति ॥ रूप लावण्य कांति गुन इन शोभानकर युक्त स्त्री होय युवा न होय वो जेसें भर्त्तार विना निष्फल तेसेंही महामुद्रा महाबंध ये दोनो महावेधकर रहित होंय तों निष्फल हें कहा व्यर्थ हें ॥ २५ ॥

अब तीसरी महावेध मुद्रा कहें हें ॥ महावेधेति ॥ महावेध मुद्रामें स्थित एकाग्र हे बुद्धि जाकी एसो योगी नासिकाके पुटकरकें पूरककरकें कंठमें मुद्रा जो जालंधर मुद्रा ताकरकें वायुकी ऊपर नीचें गमन रूप जो गती ताय रोक कुंभककरकें ॥ २६ ॥

मू० समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥

॥ टीका ॥

ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावि' त्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्या-

॥ भाषा ॥

समहस्तेति ॥ पृथ्वीमें लगरहे हैं तलुआ जिनके एसे दोनो हाथ समान धरकरकें फिर योनिस्थानमें लगरही हे एढी जाकी ता पामकर सहित दोनो हाथके सहारे कछूक उठकरकें फिर मंद मंद ताडन करे भूमिमें इडा पिंगला दोनोनकूं उल्लंघनकरकें सुषुम्नाके मध्यमें वायु प्राप्त होय ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोम सूर्य अग्नि इनमें अधिष्ठित नाडी इडा पिंगला सुषुम्ना तिनको संबंध मोक्षके अर्थ होय हे निश्चयता प्राण वियोगकी अवस्था मृतावस्था उत्पन्न होय हे अर्थात् मरोसो होजाय ता पीछैं वायुकूं नासिका पुटनकरकें शनैं शनैं रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ ये जो महावेध हे सो अभ्यास करेतें महासिद्धी जो अणिमादिक

मू० वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥

॥ टीका ॥

स्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह ॥ एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः॥ ३० ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह ॥ अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनं । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यसंभारः समूहस्तस्य संधायि विधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम् ॥

॥ भाषा ॥

तिनकूं देवेमें समर्थ हे और वली पलित कंप अर्थात् बुढो होय जाके देहमें त्रिवलीसी पडे जाकूं वली कहे हें और बुढापेकर केश सुपेद होय जाय ताकूं पलित कहें हें. और बुढापेसूं देह कांपन लगे तासूं कंप कहें हें इन तीनोनकूं नाश करे हे यातें अभ्यासीनमें जे उत्तम हें तिनकरकें अभ्यास करिये हे ॥ २९ ॥

एतदिति ॥ ये महामुद्राकूं आदिले तीन मुद्रा महा गोप्य हें और बुढापेकूं मृत्यूकूं विशेष दूर करे हे. और जाठराग्नीकूं वृद्धी करे हे. अणिमादिक सिद्धीकूं देवे हे ॥ ३० ॥

अष्टधेति ॥ एक दिनमें आठ प्रहर होय हे सो नित्य प्रहर प्रहरमें आठ करे और

मू० सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

॥ टीका ॥

सम्यक् संप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह ॥ कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धं ॥३२॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह ॥ छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणं । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

॥ भाषा ॥

पुण्यके समूहकूं वढावे हे फिर पापनको ओव समूह ताकूं वज्रकीसीनाई नाशको करवेवारो हे शिक्षावान पुरुषनकूं या प्रकार दिन दिनमें प्रहर प्रहरमें आठ प्रकार यारीती कर पूर्व साधन अल्प अल्पही करनो योग्य हे ॥ ३१ ॥

अब खेचरी चोथी मुद्रा कहें हें ॥ कपालेति ॥ कपालमें जो छिद्र तामें विपरीत जिव्हा प्रवेश करे और भृकुटीके मध्यमें नेत्रनकरकें देखनो ये खेचरी मुद्रा हे ॥ ३२ ॥

अब खेचरीकी सिद्धिको लक्षण कहें हें ॥ छेदनेति ॥ छेदन अगाडी कहेंगे और चालन हस्तके अंगुठा तर्जनी कर जिव्हाकूं पकडकरके हलानो सो चालन और दोनो हाथके अंगूठा तर्जनी कर गौके थनकूं दुहें हें तेसेंही खेंच खेंचके जिव्हाकूं बढावे कहा लंबी करे कितनी जबतक बहार निकास भृकुटीके मध्यकूं स्पर्श करे तबतांई बढावे तब खेचरीकी सिद्धी होय ॥ ३३ ॥

मू० स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६॥

॥ टीका ॥

तत्साधनमाह ॥ स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेणसदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । ‘ मिश्रेयाप्यथ सिंहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडे ’ त्यमरः ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशं । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयं । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति । मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छे-

॥ भाषा ॥

अब खेचरीको साधन कहे हें ॥ स्नुहीति ॥ थूहरके पत्रकी तुल्य अति तीक्ष्ण होय सचिक्कण होय निर्मल होय एसो शस्त्र लेकरकें जिव्हाके नीचे नसकूं रोममात्र छेदन करे ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ छेदन करे पीछे लवण सेंधो और हरडे इनको चूर्णकरके छेदनकीजे मलदेवे सायंकाल प्रातःकाल दोनो समे योगीकूं लवणको निषेध हे यातें खदिर हरडे इन दोनोनकूं पीसके मलदेवे सातादिन तांई फिर सातदिन पीछें आठमे दिन फिर अधिक छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ या क्रमकरकें फिर सात दिन लवण हरडेकर घर्षण करे योगाभ्यासी पु-

मू० कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

दनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह ॥ कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्वं तालुपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दोऽव्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

॥ भाषा ॥

दिन अधिक छेदन करे एसें छै महीनापर्यंत नित्य युक्तीसुं करे तो छै महीना पीछें जिव्हाकी मूलमें जो नाडी अर्थात् कपालके छिद्रमें जिव्हाके संयोगकूं नही होय वे नाडीकरकें बंध नाशकूं प्राप्त होय ॥ ३६ ॥

कलामिति ॥ जिव्हा तिरछिकरकें तीनो नाडीनको मार्ग जो कपालको छिद्र तामें योजना करे ये खेचरी मुद्रा होय हे याहीकूं व्योमचक्र कहें हें ॥ ३७ ॥

अब खेचरीके गुण कहें हें ॥ रसनामिति ॥ तालुएके उपरि छिद्रमें जाय एसी जिव्हाकरकें एक घडीमात्र खेचरीमुद्रा स्थित रहे तो योगी सर्प वींछू इनकूं आदिलेकर जो जंतू तिनके बिषकर छूट जाय. और व्याधी मृत्यु और बुढापो ये हें आदि जिनके एसे त्रिवली पलित इनकरकें छूट जाय ॥ ३८ ॥

मू० न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते॥४०॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति। तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा। नामेति प्रसिद्धावव्ययम्। सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता। खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता। उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः।

॥ भाषा ॥

नरोग इति ॥ जो खेचरीमुद्राए जानै हे ताकै रोग मरण आलस्य निद्रा क्षुधा तृषा मूर्च्छा ये विशेषकरकें नही होय ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ जो खेचरी मुद्राकूं जाने हे सो रोगकरकें नही पीडायमान होय कर्मकरकें लिप्त नही होय कालकरकें बाधाकूं नही प्राप्त होय ॥ ४० ॥

चित्तमिति ॥ अंतःकरण भ्रुकुटीके भीतर जो छिद्र तामें विचरे और जिव्हा भ्रुकुटीके मध्यमें विचरे ताकरकें कपिलादिक सिद्धनकरकें ये खेचरी कहें हें ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ जा योगीनें तालुवेके उपरि जो छिद्र ताय खेचरी मुद्राकरकें ढक दियो तो

मू० चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥
ऊर्ध्वजिव्हः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥

॥ टीका ॥

सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वेत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्ह इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलापू-

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें आलिंगन हो रह्यो ताको बिंदु नही स्खलित होय ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ और जो बिंदु स्खलित होय गयो जा कालमें योनिमंडलमें प्राप्त हुयो फिर वो योगी मेढ्रकूं आकुंचन जामें करे सो मुद्रा योनिमुद्रा याकरकें वज्रोली मुद्रा दिखायदिनी बंध्यो हुयो और शक्तिकरकें खिच्यो हुयो सुषुम्नामार्गकरकें ऊपरकूं खेंच ले अर्थात बिंदुस्थानकूं प्राप्त होय हे ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्हेति ॥ तालूके ऊपरि छिद्रके सन्मुख जिव्हा लगाय स्थिर होय जो तालूके ऊपर छिद्रमेंसूं पडे एसो जो चंद्रामृत भ्रुकुटीनके मध्यमें चंद्रमा रहे तामेंतें अमृत स्रवे हे ता चंद्रामृतकूं पान करे योगवेत्ता सो मासको अर्द्ध जो पक्ष ताकरकें मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नही निश्चय हे ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ और जा योगीको शरीर नित्य प्रति चंद्रामृतकरकें पूर्ण होय ता यो-

मू० तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥
इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

तपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसपरिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनं । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तंसत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते । ‘ कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् । दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्॥’ ब्रह्मांडपुराणे । ‘ गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥’ राजयोगे वामदेवंप्रति शिववाक्यं । ‘राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः।अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः । अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।

॥ भाषा ॥

गीको शरीर तक्षक सर्पकरकें डस्यो हुयो ताकूं विष नही प्रभाव करे और दुःखवी नही होय ॥४५॥

इंधनानीति ॥ जेसें अग्नि काष्ठकूं नही छोडे हे और दीपक तेलसहित जो वत्ती ताय नही छोडे हे तेंसेंही चंद्रामृतकरकें पूर्ण जो देह ताय जीव नही त्याग करे ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ जो योगी गोमांस नित्य प्रति भक्षण करे अमरवारुणीको नित्य पान करे ता योगीकूं ग्रंथकर्ता कहें हें में उत्तम कुलमें उत्पन्न हुयो मानुहूं और जो गोमांस भक्षण अमर वारुणी इनके भक्षण पानकर रहित हे वो अयोगी हे ते कुलके नाश करवे-

मू० गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥
चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी ॥

॥ टीका ॥

त्वया मयाप्यसौ बंधः शेषैर्वेद्यस्तु किं पुनः ॥' इति । कूर्मपुराणे । 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह ॥ गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेन शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह ॥ जिव्हेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ यदि चेल्लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरं-

॥ भाषा ॥

वाले हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुये तोहु उनको जन्म वृथा है ॥ ४७ ॥

गोमांस शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ गोशब्देनेति ॥ गोपदकरकें यहां जिव्हा कही हे. तालुके समीपमे जो छिद्र तामें जिव्हाको प्रवेश ताकूं गोमांसभक्षण कहे हें. एसो जो गोमांस भक्षण सो महापातकनकूं नाश करे हे ॥ ४८ ॥

अमरवारुणी शब्दको अर्थ कहे हें ॥ जिह्वेति ॥ तालुवेके ऊपर छिद्रमें जिव्हाको प्रवेश तातें हुयो जो अग्नि कहा ऊष्मा ताकरके उत्पन्न हुयो जो सार भ्रुकुटीके भीतर वामभागमें स्थित जो चंद्रमा तातें स्रवे हे सो अमरवारुणी कहें हें ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ जो तालुवेके ऊपर छिद्रकूं निरंतर स्पर्श करे और चंद्रामृतको स्राव जामें

मू० सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ९० ॥
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥ ९१॥

॥ टीका ॥

तरं । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्पं-दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरीचादि आम्लं चिं-चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा-तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वास्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्यो-दीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्व-ममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्ष-णमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । ऊर्ध्वमुत्तान-

॥ भाषा ॥

होय एसी जिव्हा और लवणसहित मरिचादि चिंचाफलादि दुग्ध इन कर समान मधु स-हत घी इनकर समान अर्थात् जिव्हामें मूलछेदनके पीछें एसे एसे स्वाद अमृतके स्राव ग्रहणतें स्वभावतें ही होंय तब वा योगीकूं रोगनको दूर होनो वृद्धावस्थाको नाश और शस्त्रनको अपने सम्मुख आगमन तिनकूं निवारण करणो आठोंसिद्धीनकी प्राप्त होनो और देवभाव होनो सिद्धांगनानको आकर्षण करनो इतनी शक्ति होय जाय ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ जिव्हाकूं कपालके छिद्रमें लगायकरकें फिर ऊंचो मुखकरकें यामें विप-रीत करणी दिखाय दीनी कुंडलिनीकूं ध्यान करत साधनभूत प्राण तातें भ्रुकुटीके मध्यमें द्विदल कमलमेंतें नीचे कंठमें वर्तमान षोडशदल कमल तामें पडो हठयोगतें प्राप्त हुयो निर्मल धारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस ताय जो पुरुष पीवे सो योगी ज्वरादिक

मू० यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

मास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य-इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता त्रिविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-

॥ भाषा ॥

व्याधीकर रहित होय और कमलके गाबेकोसो कोमल देह जाको एसो होय दीर्घ काल तांई जीवे ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरु पर्वतकीसीनाई संपूर्णतें ऊंची सुषुम्ना ताके उपरिभागमें स्थित जो चंद्रामृतरूप जल सो हे स्थित जामें एसो छिद्र तामें सतोगुणी हे बुद्धी जाकी सो आत्मतत्व कहें हे. और गंगा यमुना सरस्वती नर्मदा जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारीकूं आदिले जो नाडी तिनकूं ता विवरमें अग्रपनो हे सो चंद्रमंडलतें शरीरको सार स्रवे हे. ता चंद्रामृतके स्रावकरकें मनुष्यनकी मृत्यु होय हे. यातें प्रथम कह्याए हें सुकरण नाम खेचरी मुद्रा ताय बांधे या खेचरीके बांधेतें चंद्रामृत नहीं स्रवे तब मृत्यु नहीं होय जो खेचरी मुद्राको अभाव कहा नहीं बांधे तो देहकी सिद्धिरूप लावण्य बल वज्रकीसी नाई दृढ होनो ये नहीं होय ॥ ९२ ॥

मू० सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ९३ ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ९४ ॥

॥ टीका ॥

मित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तास्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषःशरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ९२ ॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' त्यात्मनेपदम् ॥ ९३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यं । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि । 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमि' ति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ९४ ॥

॥ भाषा ॥

सुषिरमिति ॥ पांच जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारी हस्तिजिव्हा इन पांच नाडीनको प्रवाह ऊपर है ये ऊपरकूं वेहें हें सो इनके प्रवाह कर संयुक्त और आत्माकूं साक्षात्कार प्रगट करे ऐसो विवर हे सो अविद्या और अविद्याके कार्यशोक मोहादिक ये जाते दूर होंय पोलरूप जो विवर तामें खेचरी मुद्रा स्थिर होय ॥ ९३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिरूप बीज प्रणव नाम एकही हें. सब बीजनमें मुख्य हे. और सर्व देवतानमें देव भगवान् मुख्य हें. जेसें मनोन्मनी अवस्था मुख्य हे. तेसेंही मुद्रानमें खेचरी मुद्रा मुख्य हे ॥ ९४ ॥

अथोड्डीयानबंधः ॥

मू० बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह ॥ बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वा 'डीङ् विहायसा गतावि' त्यस्मात्करणे ल्युट् ॥५५॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम् । तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उड्डीयानबंधमाह ॥ उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः । कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

॥ भाषा ॥

उड्डियानबंधकूं कह्यो चाहे है सो प्रथम उड्डियान शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ बद्ध इति ॥ जा हेतुतें वा जा बंधनकरके रुको हुयो वायु सुषुम्नामें मध्यनाडीकरकें उड जायकें सुषुम्ना आकाशमार्गकरकें गमन करे तातें ये बंध योगी मत्स्येंद्रादिनकरकें उड्डियानबंध कह्यो हे॥५५॥

उड्डीयानमिति ॥ महान् जो खग कोन प्राण सो जा बंध करेतें श्रम जामें न होय सुषुम्नामें होय पक्षीनकी गती करे वा बंधनकूं उड्डियान नाम कहें हें तामें बंधस्वरूप कह्यो हे ॥५६॥

उदर इति ॥ नाभिको उपरलो भाग नीचलो भाग इनकूं उदरमें पीठमें लग जाय एसो

मू० उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानं त्विति ॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम् । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूप मुक्तं । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतं । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् । 'समाधौ मोक्षमाप्नोती' ति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

॥ भाषा ॥

पीछेकूं खेंचे ये बंधन उड्डियान नाम हे. केसो हे मृत्युरूपी हाथीकूं सिंहकीसीनाई निवर्त करवेवारो हे ॥ ५७ ॥

उड्डियानं त्विति ॥ हितके उपदेशकर्ता गुरु ता गुरुकरकें सहजस्वभाव कह्यो हुयो उड्डियान ताय अभ्यास करे निरंतर तो वृद्ध पुरुषबी तरुण होय जाय ॥ ५८ ॥

नाभेरिति नाभीको उपरिभाग नीचलो भाग यत्नतें पीठमें लगे एसो तान करे अर्थात् पीछेंकूं खेंचे या उड्डियानकूं छे महिनापर्यंत एसें अभ्यास करे वारंवार तो मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नहीं ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ संपूर्ण बंधननके मध्यमें उड्डियान बंधन उत्तम हे ये उड्डियान बंधन दृढ

अथ मूलबंधः ॥

मू॰ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥

॥ टीका ॥

मूलबंधमाह ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः॥६१॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिं अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबंधस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह ॥ **गुदमिति** ॥ पार्ष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य

॥ भाषा ॥

होय जाय तो स्वभावसिद्धही मुक्ति होय उड्डियानके करेतें पक्षीनकीसी गतीकरकें सुषुम्नामें होय प्राणकूं मस्तकमें लेजायेतें समाधीमें मोक्ष होय हे या प्रकार स्वाभाविकी मुक्ति होय ॥ ६० ॥

अब मूलबंध कहें हें ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ एडीकर योनिस्थानकूं दाबकरकें गुदाकूं संकोचकरे फिर अपान जो वायु कोन नीचेकूं जाय जो वायु ताय ऊपर चढावे ये मूलबंध कह्यो हे ॥ ६१ ॥

अधोगतिमिति ॥ नीचें गती जाकी एसो जो अपानवायु ताकूं मूलाधार संकोचककरकें बलतें ऊर्ध्वगमन करे अर्थात् सुषुम्नामें प्राप्त करे योगाभ्यासी याकूं मूलबंधन कहें हें मूलस्थानको बंधन जामें होय सो मूलबंध कहें हें ॥ ६२ ॥

योगबीजमें कही जो रीती ताकरकें मूलबंध कहें हें ॥ गुदमिति ॥ एडीकरकें

मू० वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥
प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥

॥ टीका ॥

विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं

॥ भाषा ॥

गुदाकूं दाबकरकें फिर जा प्रकार कर वायु सुषुम्नाके उपरिभागमें प्राप्त होय ता प्रकार कर बलतें वारंवार अपान वायुकूं गुदाकूं आकुंचन करकें खेंचे ये मूलबंध हे ॥ ६३ ॥

अब मूलबंधके गुण कहें हें ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राण अपान प्राण तो ऊर्ध्वगति वायु और अपान अधोगती वायु और नाद कहा मेघकीसी ध्वनि और बिंदु कहा अनुस्वार ये च्यारों मूलबंधकरकें एकत्र होय योगकी सिद्धी ताय देवे. यामें संदेह नही. याको ये भाव हे मूलबंध करेतें अपानवायु प्राणवायुकरकें सहित एक होय सुषुम्नामें प्रवेश करे तातें नाद प्रगट होय ता नादकरकें सहित प्राण और अपान दोनो वायु हृदयके ऊपर जाय नादकूं बिंदुकरकें सहित ऐक्यकरकें मस्तकमें प्राप्त होय तातें योगसिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ निरंतर मूलबंध मुद्रा करेतें अपानवायु और प्राणवायु

मू० युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ ६६ ॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मंडले त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । ' देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् । मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ' इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धत इति क्वचित्पाठः॥६६॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

॥ भाषा ॥

इनकूं ऐक्यता होय जाय हे. तब संचय कियो हुयो मूत्र और पुरीष इनको पतन होय. या मूलबंधके करेतें बूढो पुरुष युवान होय जाय ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधन करेतें अपानवायु ऊपर चलन लगे तब नाभितें नीचे त्रिकोण हे वो अग्निको मंडल हे वामें अग्नी रहे हे वा अग्निमंडलमें अपानवायु जाय हे तब वायुकरकें मिली हुई जाठराग्निकी शिखा कोन ज्वाला बढ जाय हे ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ता पीछें अग्नि और अपानवायु ये दोनो उष्णस्वरूप जाको एसो प्राणवायु तामें जाय हे ताकरकें देहमें होय एसो अग्नि अत्यंत अधिक दीप्त होय हे ॥ ६७ ॥

मू० तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभीः सदा ॥ ६९ ॥
कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

॥ टीका ॥

तेनेति ॥ तेनज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

जालंधरबंधमाह ॥ **कंठमिति** ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीतिविनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

॥ भाषा ॥

तेनेति ॥ ता अग्निको अत्यंत दीपनताकरकें तापकूं प्राप्त हुई और सूती हुई जो कुंडलिनी शक्ति सो जाग उठै हे. जैसें दंडके प्रहारकरकें सूती सर्पिणी बडे बडे श्वास लेकर सूधी सरल होय जाय ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ तापीछें बिलेमें प्रवेश कर जाय सर्पिणी ताकीसीनाई कूंडलिनी सुषुम्नामें प्रवेश कर जाय ता कारणतें योगाभ्यासीनकरकें मूलबंध दिनदिन प्रति सर्वकालमें करनो योग्य हे ॥ ६९ ॥

अब जालंधर बंध कहें हैं ॥ **कंठमिति** ॥ कंठकूं नीचो नमाय हृदयके च्यार अंगुल अंतरेय ढोढी यत्न कर दृढ स्थिर स्थापन करे ये जालंधर नाम बंध हे ये कैसो हे वृद्धावस्था और मृत्यु इनकूं नाश करे हे ॥ ७० ॥

मू० बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥

॥ टीका ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह ॥ बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरगुणानाह ॥ जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं

॥ भाषा ॥

अब जालंधर पदको अर्थ कहें हें ॥ बध्नातीति ॥ नाडीनको जाल जो समूह ताय बांधे और नीचेकूं गमन करे एसो कपालको कुहर जो छिद्र ताको जल जो अमृत ताय बांधे तातें ये जालंधरबंध हे जलनको समूह होय ताकूं जाल कहें हें जाल जो नशनको जाल ताय धारन करे यातें जालंधर कहे हे ये जालंधर बंध कंठमें जो दुःखनको समूह विकारमात्र कंठके ताकूं नाश करे हे ॥ ७१ ॥

अब जालंधरके गुण कहे हें ॥ जालंधर इति ॥ कंठके नीचै नमानो येही स्वरूप जाको एसो जालंधर बंध करे तब ऊपरसुं अमृत जाठराग्नीमें नही पडे तब प्राणवायु नाडीके भीतर गमन कर प्रकोप नही करे ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढ कंठके संकोचनमात्रकरकें दोनो नाडी इडा पिंगला तिनै स्तंभन करे ये जालंधर बंध हे कंठस्थानमें स्थित विशुद्ध नाम चक्र हें सोमध्यम चक्र जाननो

मू० मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥
मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयं । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रुमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह ॥ मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदि ' त्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेनैव पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् ।

॥ भाषा ॥

योग्य हे केसो हें चक्र षोडश संख्या जिनकी एसे आधार अंगुष्ठकूं आदिले ब्रह्मरंध्र तक सोले हे सोलेनकूं गिनावे हे अंगुष्ठ गुल्फ जानू ऊरू सीवनी लिंग नाभि हृदय ग्रीवा कंठदेश लंबिका नासिका भ्रुमध्य ललाट मूर्धा ब्रह्मरंध्र ये सोले आधार योगीनमें श्रेष्ठ तिनकरकें कही है. इन आधारमें धारणाको फलविशेष हें सो गोरक्षसिद्धांततें जान लेनो ॥ ७३ ॥

मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानकूं नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डियान बंध करे और जालंधर बंध कर इडा पिंगलाकूं बांधकरके अर्थात् कंठ नमाय दोनो नाडीनकूं स्तंभन करे फिर पश्चिममार्ग जो सुषुम्नामार्ग तामें प्राणवायुकूं प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ या विधानकरकें प्राणवायु स्थिर होय जाय अर्थात् वायुकी गति बंध होय

मू० बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥
यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादिः ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धै-र्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥ ७६ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह ॥ **यत्किंचिदिति** ॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । 'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

रंध्रमें स्थिति रहें ताकूं प्राणलय होनो कहें हें ता प्राणके लयतें मृत्यु जरा रोग देहकी त्रिवली श्वेत वाल होनो मूर्छा आलस्यादिक ये नहीं होंय ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ ये पहलें कह्या ए जो तीन बंध सो श्रेष्ठ हें मत्स्येंद्रादिक महासिद्धनकर वसिष्ठादिक मुनीनकरकें सेवन करे गये. और संपूर्ण हठके उपायनकी सिद्धीकूं प्रगट करवेवाले हें. या प्रकार गोरक्षकूं आदि लेकें जे सिद्ध हें ते जाने हे ॥ ७६ ॥

यत्किंचिदिति ॥ तालूके मूलमें स्थित दिव्यरूप जाको एसो चंद्रमा तामेंतें कछूक अमृत स्रवे हे वा अमृतकूं नाभिमें स्थित जो अग्निरूप सूर्य सो ग्रास करे हे ता सूर्यके अमृत ग्रास करेतें ये देह जरा जो वृद्धावस्था ताकर युक्त होय हे ॥ ७७ ॥

मू० तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यं । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

विपरीतकरणीमाह ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरूवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासो ऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठ-

॥ भाषा ॥

तत्रेति ॥ या प्रकर्णमें नाभिमें स्थित जा अग्निरूपी सूर्यको मुख वंचाय जानो जाकरकें एसो दिव्य उत्तम जो करण मुद्रा अगाडी कहेंगे जो विपरीतकरणी मुद्रा हे सो गुरूनके उपदेशतें जानवेकूं योग्य हे. ओर कोटिन शास्त्रनके अर्थनकर नहीं जानवेकूं समर्थ हे ॥ ७८ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहें हें ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ उपरि भागमें नाभि जाके और अधोभागमें तालुस्थान जाके एसे योगीके उपरि भागमें दहनरूप सूर्य होय हे और अधोभागमें अमृतरूपी चंद्रमा होय हें ये विपरीत नाम करणी हे ऊपर चंद्रमा नीचें सूर्य ताको ऊपर सूर्य नीचें चंद्रमा करनो ये गुरूनके वाक्यकरकें प्राप्त होय हे और प्रकार नहीं होय ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ याको नित्य अभ्यास करे ताकी जाठराग्निकूं वृद्धी करवेवाली विप-

मू० अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

राग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चः पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह ॥ अधःशिरा इति ॥ अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह ॥ वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च । षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्व-

॥ भाषा ॥

रीतकरणी है विपरीतकरणीके अभ्यास करवेवालेकूं भोजन बोहोत इच्छापूर्वक करनो योग्य हे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ जो विपरीतकरणी करवेवालो थोडो भोजन करे तो प्रज्वलित हुई जाठराग्नि देहकूं शीघ्र जलाय दे अब क्रिया कहे हें पृथ्वीमें मस्तक धरकरकें दोनो भुजा कटिमें प्रवेशकरकें ऊपर अंतरिक्षमें पामकरकें स्थित होय आरंभके प्रथम दिनतो क्षणमात्र रहे ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ फिर दिनदिन प्रतिक्षणतें कछू अधिक दूसरे दिन दो क्षण तीसरे दिन तीन क्षण एसें दिनवृद्धीकर अभ्यास करे अब विपरीतकरणीके गुण कहे हें याके करवेवालेके देहमें वली चर्ममें पडजाय सो और श्वेतकेश छे महीना पीछे नहीं दीखें जो

अथ वज्रोली ॥

मू० स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

॥ टीका ॥

मुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥ यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे । 'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षण'मिति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम् । यथा प्रारब्धकर्मतत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत इति। भागवतेऽप्युक्तं। 'देहं जह्यात्समाधिने'ति॥८२॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह ॥ स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह॥तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं

॥ भाषा ॥

विपरीतकरणी एसें अभ्यास करत करत एक प्रहर मात्रकरकें लग जाय तब वो योगी मृत्युकों जीतवेवारो होय जाय. याकरकें ये दिखायो योग प्रारब्धकर्मकूं दूर करे हे. जैसें प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानतें प्रबल हे तेसेंही ता प्रारब्धकर्मतें योगाभ्यास प्रबल हे. उद्दालक और वीतहव्यादिक योगीनकूं स्वेच्छाकरकें देह त्याग कह्यो हे. यातें योग श्रेष्ठ हे ॥८२॥

अब वज्रोलीके आदिमें याको फल कहे हें ॥ स्वच्छयेति ॥ जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्राकूं विशेषकर अपने अनुभव करकें जाने सो योगी योगशास्त्रमें कहे जे ब्रह्मचर्यादिक करे विना अपनी इच्छाकरकें वर्तमान रहे अणिमादिक अष्टसिद्धीनके भोगवेवारो होय ॥ ८३ ॥

तत्रेति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें दोय वस्तु कहे हें जा काउ निर्धन पुरुषकूं दुर्लभ हें

मू० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८९ ॥
यत्नतः शस्तनालेन फुत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

॥ टीका ॥

वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह ॥ क्षीरमिति ॥ एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानम् युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तं । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह ॥ मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८९ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह॥ यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्र-

॥ भाषा ॥

एक तो दूध पीवेके अर्थ स्त्री संगके पीछै इंद्रिय निर्बल होय जाय हे याते दूधपान करनो योग हे द्वितीय वस्तु अपनै आज्ञाकारी वशवर्तिनी स्त्री ॥ ८४ ॥

अब वज्रोली मुद्राको प्रकार कहें हें ॥ मेहनेनेति ॥ स्त्रीसंगके पीछै बिंदुको क्षरण कहा पडनो ताकूं पुरुष अथवा स्त्रीबी यत्नपूर्वक इंद्रीकूं ऊपर आकुंचनकरके वीर्यकूं ऊपरि खेंच लेवेको अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्राकी सिद्धी प्राप्त होय ॥ ८९ ॥

अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वांग क्रिया कहें हे ॥ यत्नत इति ॥ चांदीकी बनी हुई नाल शनै शनै जेसें अग्नीके सिलगायवेकूं फूंक मारे तेसोही फूत्कार इंद्रीके छिद्रमें वायूको संचार वारंवार करे । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रिया कहें है. सीसेकी बनी होय सचिक्कण होय इंद्रीमें प्रवेशके योग्य होय ऐसी चोधे अंगुलकी शलाका कराय-

मू० नारीभगे पतद्विंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

॥ टीका ॥

क्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसे । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

एवंवज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह॥नारीभग इति॥ नारीभगे स्त्रीयो-

॥ भाषा ॥

करकें ताकूं इंद्रीमें प्रवेश करवेको अभ्यास करे पहिले दिन एक अंगुल प्रवेश करे दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे या रीतकर क्रमसूं बारे अंगुल मात्रा प्रवेश होय तब इंद्रियमार्ग शुद्ध होय वो चोदे अंगुलकी शलाका तामें दोय अंगुल टेढी ओर ऊंचो मुख जाको एसी करायले फिर वो द्वादश अंगुल भीतर प्रवेश करे और टेढी ऊंचो मुख जाको वो दो अंगुल बहार स्थापन करे ता पीछें सुनारकी अग्नी सिलगायवेकी नाल ताकीसदृश नाल ग्रहणकरकें ता नालको अग्रभाग इंद्रीमें प्रतेश कियो जो द्वादशांगुलकी नाल ताको टेढी ऊंचे मुखकी बहार स्थित दो अंगुलकी नाल ताके मध्यमें प्रवेश करके फिर फूत्कार करे ताकरकें भलि प्रकार इंद्रियमार्ग शुद्ध होय. तापीछै इंद्रीसूं जलको उपर चढायवेको अभ्यास करे जब जलको आकर्षण होयवे लगजाय अछी तरहसूं तब पहले श्लोकमें कही जो रीती ताकरकें वीर्यके आकर्षणको अभ्यास करे जब वीर्यको आकर्षण खेंच लेनो सिद्ध होय जाय तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय है. जाके खेचरी मुद्रा ओर प्राणजय ये दोनो सिद्धी जाकूं होंय ताकूं वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय औरकूं नही होय ॥ ८६ ॥

एसें वज्रोली मुद्राको अभ्यास सिद्ध होय जाय ताके अगाडीको साधन कहें हें ॥ नारी-

मू० एवं संरक्षयेद्विंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥
सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

॥ टीका ॥

नौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह ॥ चलितं चेति ॥ चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत्॥८७॥

वज्रोलीगुणानाह ॥ एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं बिंदुधारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

॥ भाषा ॥

भगे इति ॥ रतिकालमें स्त्रीकी योनिमें जानें पड्यो और पडे नही जा पहलें जो बिंदु नाम वीर्य ताय वज्रोलीके अभ्यासकरकें ऊपरि आकर्षण करे जो पडे पहलें बिंदुको आकर्षण न होय तो नारीके भगमें गिरपड्यो जो अपनो बिंदु ताय और स्त्रीको जो रज ताकूंबी ऊपर खेंचकर स्थापन करे ॥ ८७ ॥

अब वज्रोलीके गुण कहें हें ॥ एवमिति ॥ या रीतकर जो बिंदुकूं स्थिर करे सो योगवेत्ता होय हे. और वो मृत्युकूं जय करे. और बिंदुजो वीर्य ताके पतनकरकें तो मरण होय हे. और जो वीर्यकूं यारीतसूं धारण करे तातें जीवन होय हे. तातें बिंदुकूं या रीतकर स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ वज्रोलीके अभ्यास करवेवालेके देहमें वीर्यके धारणतें बोहोत सुंदर सुगंध प्रगट होय हे. और जबतांई बिंदु स्थिर रहे तबतांई कालको भय नहीं होय ॥८९॥

मू० चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति ॥ मेढ्रेणेति ॥ अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह ॥ **सहजोलिश्चेति** ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह ॥ **जलेष्विति** ॥ गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव

॥ भाषा ॥

चित्तायत्तमिति ॥ निश्चय ही जो चित्त चलायमान होय तो मनुष्यनको वीर्य चलजाय. और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्यबी स्थिर होय. चित्तके आधीन वीर्य हे. और शुक्र जो स्थिर होय तो जीवन स्थिर होय. जो शुक्र नष्ट होय जाय तो मरण होय. तों शुक्राधीन जीवन हे. तातें शुक्र और बिंदु इने यत्नतें अवश्य रक्षा करनो योग्य हे ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ ऋतुमती स्त्रीको रज और अपनो बिंदु ताय यारीतसूं स्थिर करे इंद्रीकरकें यत्नपूर्वक रज और बिंदुकूं ऊपर आकर्षण करे सो वज्रोलीके अभ्यासयोगवेत्ता जाननो ॥ ९१ ॥

अब सहजोलि अमरोली कहें हे ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोलीके भेदविशेष सह-

मू० वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तर श्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' त्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेनः युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां-

॥ भाषा ॥

जोली अमरोली हे. क्यों जो वज्रोलीके फल सोई इनके फल हें यातें और गोबर जलाय वाकी भस्म श्वेत होय हे. सुंदर होय हे. यातें वा भस्मकूं जल मिलायकरकें ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीके अर्थ मैथुनकरे पीछै आनंदपूर्वक बेठे क्षणमात्र रतिके उत्सवतें त्याग कीनी हे रतिक्रिया जिनने एसे जो स्त्रीपुरुष तिनकूं सुंदर अंग जो मस्तक ललाट नेत्र हृदय स्कंध भुजादिकनमें लेपन करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ मत्स्येंद्रादिक योगीनकरकें ये क्रिया सहजोली नाम कही हे यै श्रद्धा करवेके योग्य हे. और शुभकों करे हे. और जो स्त्रीसंगकरकें युक्त हे तोबी ये योग मोक्षको देवेवारो हे ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ ये योग पुण्यवाननकूं धैर्यवाननकूं तत्त्वदर्शीनकूं दूसरेके गुण दोष-

अथामरोली ॥

मू० पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ९६
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

॥ टीका ॥

पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रांता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्य गुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अमरोलीमाह ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अंत्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खंडकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासे-

॥ भाषा ॥

कर रहित होय तिनकूं सिद्ध होय हे और दूसरेके गुण ऐश्वर्यादिककूं देखकर द्वेषादिक करे ओर जरोकरें तिनकूं नही होय ॥ ९५ ॥

अब अमरोली कहें हें ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ शिवांबुके निर्गमन समयमें पित्त करकें उत्कटभाव जाको एसी जो प्रथम धारा किंचित् उष्णता जामें ताय त्यागकरकें फिर नही हें सार जामें एसी अंत्यधारा ताय त्यागकरकें फिर शीतल पित्तादिक दोषकरकें रहित जो मध्यधारा सो निरंतर सेवन करै. योग हे अभिमत जाके एसी जो कापालिका क्रिया सोही अमरोली या नामकर प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ जो पुरुष अमरी जो अमरवारुणी ताकूं नासिकाके अंतमें ग्रहण

मू० अभ्यासान्निःसृता चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥
पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

नामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैरि' ति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरीपातामरी । नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु-शिरःकपालनेत्रस्कंधकंठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह ॥ पुंसो बिंदुमिति॥ सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो बिंदुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम्॥९९॥

॥ भाषा ॥

करत अमरीकूं पान करे और दिन दिन प्रति वज्रोलीकूं अभ्यास करे सो कापालिककी अमरोली कही हें ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अमरोलीके अभ्यासतें निकसी चंद्रमाकी सुधा ताय पहली कहीं जो भस्म तामें मिलायकरकें उत्तम अंग जो मस्तक नेत्र स्कंध हृदय भुजादिकनमें धारण करे तो भूत भविष्य वर्तमान देखवेके योग्य दृष्टि जाकी एसो दिव्यदृष्टि होय जाय ॥९८॥

अब पुरुषकूं वज्रोली साधन कहकरकें अब स्त्रीकूं वज्रोली साधन कहे हें ॥ पुंसो बिंदुमिति ॥ जो स्त्री अभ्यासकी चातुर्यतातें पुरुषके बिंदुकूं खेंचकरकें अपने रजकूं वज्रोली मुद्राकरकें रक्षा करे वा स्त्रीकूं योगिनी नाम योग हे विद्यमान जाके एसी योगवती माननो ॥ ९९ ॥

मू० तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥
स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह ॥ तस्या इति॥ तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ । 'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेनः सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः' ॥ इति ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें करीगई जो वज्रोली ताको फल कहें हें ॥ तस्या इति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें शील स्वभाव जाको ता स्त्रीको रज कछूबी अल्पबी नष्ट पतन नही होय. यामें संदेह नही. ता स्त्रीके शरीरमें नाद बिंदुभावकूं प्राप्त होय जाय. मूलाधारतें उठ्यो जो नाद सो हृदयके उपरि बिंदुकरकें सहित ऐक्य होय हे. पुरुषको बीज और स्त्रीको रज इनको बाहार योग होय ताकरकें तो मनुष्यनकै सृष्टि होय हे. और जब अभ्याससूं भीतर रज बिंदुको योग होय तब वाकूं योगी कहें हें. और बिंदु तो चंद्रमय हे. और रज सूर्यमय हे. इनके संगमतें परम पद होय हे. ये बिंदुसंगम स्वर्ग मोक्ष धर्म इनको देवेवारो हे तेसेंही सूक्ष्मरूपकरकें बिंदु रजके संगममें समग्र देवता स्थित रहें हें ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ पुरुषको बिंदु और स्त्रीको रज ये दोनो वज्रोलीके अभ्यासतें मिलकरकें अपने देहमें प्राप्त होंय तो सर्व सिद्धी देवे हें ॥ १ ॥

मू० रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ २ ॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भूक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत्। हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्य च वस्तु वेत्ति जानाति । ध्रुवमिति निश्चीतं । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ २ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभंते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ३ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ भाषा ॥

रक्षेदिति ॥ जो स्त्री योनिकूं संकोचन करेतें उपरि स्थानमें लेजायकर रजकी रक्षाकरे योगशास्त्रमें वाकूं योगिनी कहें हें. और वो स्त्री भूत भविष्य वस्तुकूं जाने हे. निश्चय ही और ख जो अंतरिक्ष तामें विचरे एसी नाम वैमानिक गतीकूं प्राप्त होनेवारी होय ॥२॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोलीके अभ्यासकी युक्तीतें देहकी सिद्धी कोनसी रूप लावण्य बल वज्रकासो संहननभाव ताय प्राप्त होय ये वज्रोली अभ्यासरूपी योग सो पुण्यको करवेवालो हे फिर कैसो हे योग विषयभोग भोगे हें तोवी ये मोक्षको देवेवारो हे ॥ ३ ॥

अब शक्तिचालन कहें हें ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ ये सात शब्द एक अर्थके वाचक हे ॥ ४ ॥

मू० उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ५ ॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ६ ॥
कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती' ति श्रुतेः ॥ ५ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रं । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी । प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

उद्घाटयेदिति ॥ जा प्रकारकर पुरुष बलतें कूंचीकरकें किवाड खोले हे तेसें ही योगी हठाभ्यासतें कुंडलिनी शक्तिकरकें मोक्षको द्वार सुषुम्नामार्ग ताय भेदन करे ॥ ५ ॥

येनेति ॥ दुःखमात्रकरकें रहित जो ब्रह्मरंध्र सो जा सुषुम्नाके मार्गकरकें जायवेकूं योग्य ता मार्गको द्वार कुंडलिनीको प्रवेश करवेको मार्ग हे ता मार्गके द्वारकूं अपने मुखकर रोककरकें परमेश्वरी कुंडलिनी सूती हुई स्थित हे ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्व इति ॥ कुंडली शक्ति कंदके उपरिभागमें योगीनके मोक्षके अर्थ सूती और

मू० कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥ ८ ॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती' ति श्रुतेः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः। बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेण गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ ९ ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह ॥ **इडेति** ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या

॥ भाषा ॥

मूढनके बंधनके अर्थ सूती हे योगी वा कुंडलिनीकूं चलायकरकें मुक्त होय हें और मूढ पुरुष कुंडलिनीकूं जाने नही तातें बंधनमें स्थित रहें हें ता कुंडलिनीकूं जो जाने हे सो योगवेत्ता जानno. क्यों संपूर्ण योगतंत्रनकूं कुंडलीको आश्रयपनो हे ॥ ७ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्ति सर्पकीसीनाई कुटिल हे आकार स्वरूप जाको एसी योगीनकरकें कही हे कुंडली जा पुरुषने चलायमान करी अर्थात् मुलाधारतें ऊपर प्राप्तकीनी सो मुक्त कहीये हे यामें संदेह नही ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगा यमुना जो इडा पिंगला इनके मध्यमें सुषुम्ना हे सो केसी हे तपस्विनी हे और बालरंडा हे सो ये बलात्कारकरकें कुंडलीकूं ग्रहण करे हे और विष्णु जो हरि व्यापक आत्मा ताको परमपद ताय प्राप्तकी करवेवाली ॥ ९ ॥

गंगायमुना यापदको अर्थ बतावते है. ॥इडेति॥ इडा जो वामश्वासा नाडी भगवती कहा

मू० पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ ११ ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया १२
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

॥ टीका ॥

नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुंडली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

शक्तिचालनमाह ॥ पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ १२ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति॥

॥ भाषा ॥

ऐश्वर्यादिकनकर संपन्न हे वाकूं गंगा कहे हें और पिंगला जो दक्षिणश्वासा ताकूं यमुना कहें हें और इडा पिंगलाके जो मध्यमें हे कुंडली सो बालरंडा हे ॥ ११० ॥

अब शक्तिचालन कहें हे ॥ पुच्छे इति ॥ सूती जो भुजंगी कोन कुंडलिनी ताय पूंछ पकडकर बोध करावे फिर वो कुंडलिनी निद्रा छोडकर हठतें ऊपर स्थिर रहे हे ये रहस्य गुरुमुखतें जानने योग्य हे ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ मूलाधारमें स्थित फल हें विद्यमान जाके भुजंगी सोई कुंडली सूर्यतें पूरणकरकें फिर परिधान युक्ती कर ग्रहणकरकें सूर्यास्तसमयमें और सूर्योदयवेलामें नित्य प्रतिप्रहरको अर्धमात्र च्यार घडीमात्र च्यारोंमेर चलायवेकूं योग्य हे परिधानयुक्ति गुरुमुखतें जानने योग्य हे ॥ १२ ॥

कंदकूं पीडनकरकें शक्तिचालन कह्यो चांय हें सो आदौ कहिये प्रथम कंदको स्थान

मू० मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥

॥ टीका ॥

मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तं । तथाचोक्तं गोरक्षशतके । "ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिरि"ति । याज्ञवल्क्यः । "गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् । कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् । अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगमि"ति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रंथी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फावि'त्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां

॥ भाषा ॥

स्वरूप ताय कहे हे ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानतें वितस्तिमात्र प्रमाण ऊपरि नाभि और मेढ्र इनके मध्यमें कंदको स्थान हे मनुष्यनके देहके मध्यमें नवांगुल कंदस्थान हे च्यार अंगुल चोडो पक्षीके अंडाकोसो आकार और कोमल हे श्वेत हे वेष्टनकरकें वस्त्राकोसो हे स्वरूप जाको ऐसो योगीनकरकें कंदस्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासनकरकें हस्तसूं एडीनके ऊपर टकनानमें पाम पकडकरकें नाभिके नीचें कंदकूं पीडायमान करे ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासनमें स्थित जो योगी कुंडलीनीकूं चलायमानकरकें अर्थात्

मू० कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १५ ॥
भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥
मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ १७ ॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेश-

॥ भाषा ॥

शक्तिचालन मुद्राकरकें ताके पीछें भस्त्रा नाम जो कुंभक ताय करे या रीतकर कुंडली शक्तिकूं शीघ्र बोध करावे अर्थात् जगावे ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ नाभिदेशमें स्थित जो सूर्य ताकूं आकुंचन करे नाभिकूं आकुंचनकरकें ही सूर्यको आकुंचन होय हे सूर्यके आकुंचनतें कुंडली शक्तिकूं चलावे तो मृत्युके मुखमें प्राप्त हुयो जो पुरुष ताकूं कालभय नही होय ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ च्यार घडीपर्यंत निर्भय होय चालनतें ये शक्ति सुषुम्नामें उठती सती कछुक ऊपरकूं खिचे हे ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ ऊपरकूं खिचवेकरकें कुंडलीनी सुषुम्नाको अपनो प्रवेशको मार्ग ताय निश्चय

मू० तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ २० ॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुंडलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ १९ ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुंडली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहुप्रशंसनेन किं । न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य

॥ भाषा ॥

त्याग करे हे ता मार्गके त्यागतें ये प्राणवायु आपसूं आपही सुषुम्नामें गमन करे हे ॥१८॥

तस्मादिति ॥ तातें सुखकरकें सुती अरुंधती जो कुंडली ताय दिनदिनप्रति नित्य चलावे ता शक्तिके चलायवे मात्रकरकें योगी रोग जो कास श्वास जरादिकनकरकें छुट जाय ॥ १९ ॥

येनेति ॥ जा योगीकरकें शक्ति कुंडली चालन करी जाय वो योगी आणिमादिक सिद्धीनको पात्र होय हे यामें बहोत प्रशंसाकरकें कहा हे कालकूं सहजही जीतले अर्थात् तिरस्कार कर दे ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ श्रोत्रादिक इंद्रीनकरकें सहित उपस्थ इंद्रीको रोकनो तामें तत्पर होय नित्य हित पथ्य करे होय प्रमाणको चतुर्थांशकर वर्जित एसो भोजन करे कुंडली शक्ती

मू० कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥

॥ टीका ॥

नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुंडल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत्" ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनं । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुंडल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि

॥ भाषा ॥

चालनको अभ्यास सोई हे योग जाके ता एसे योगीकूं चालीस दिनको मंडल ताके अनंतर प्राणायामसिद्धी दीखे हे ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ शक्तिचालनकरकें ता पीछैं भस्त्रानाम कुंभक करे नित्य या प्रकारकरकें अभ्यास कर रह्यो जो योगी ताकूं यमराजतें भय नही होय योगीकूं देहत्याग करनो स्वाधीनपनो हे यातें ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ बहत्तर हजार नाडीनको मलशोधन कियो चाहें तो शक्तिचालनके अभ्यास विना मलशोधनको उपाय नही होय. शक्तिचालनके अभ्यासकरकें ही संपूर्ण नाडीनको मलशोधन होय हे ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ योगीनकूं दृढ अभ्यासकरकें आसन प्राणायाम महामुद्रादिकनकरकें ये

मू० आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ २४ ॥
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ २५ ॥
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषां । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ २५ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह ॥ राजयोगमिति ॥ वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः । ‘ हठं विना राजयोगः ’ इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात् । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात् । राजा

॥ भाषा ॥

मध्यमा नाडी सुषुम्ना सरल होय हे ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधि जो एकाग्रकरके मनकूं अभ्यासमें धारणकरके गई हे निद्रा आलस्य जिनको तिनकुं रुद्राणी मुद्रा जो कुंडली सो शुभ जो योगसिद्धी ताय देवे हे ॥२५॥

राजयोगमिति ॥ राजयोग विना आसन नही शोभाकूं प्राप्त होय हें और राजयोग विना निशा जो कुंभक सो नही शोभे हे. राजयोग विना चित्रविचित्र मुद्रा नही शोभे हे ॥ २६ ॥

मू० मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ २७ ॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ २८ ॥
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २९ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रः । 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजे'ति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः । विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ २६ ॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ २७ ॥

मुद्रा उपसंहरति ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि याकाचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ २८ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति ॥ उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां

॥ भाषा ॥

मारुतस्येति ॥ मारुत जो वायु ताकी सर्वविधि कुंभक मुद्रा विधान सो मनकरकें युक्त अभ्यास करे बुद्धिमान पुरुषकरकें प्राणायाम विधितें और विषयमें मनकी वृत्तिकी प्रवृत्ति नही करनो योग्य हे ॥ २७ ॥

इतीति ॥ आदिनाथ सर्वेश्वर शंभुकरकें दश मुद्रा कही हैं तिन मुद्रानमें एक एक मुद्रा योगीनकूं महासिद्धी जो अणिमादिक तिनकी देवेवारी हैं ॥ २८ ॥

उपदेशमिति ॥ जो पुरुष महामुद्रादिकनकी संप्रदाय जो योगीनकी गुरुपरंपरातें उपदेश देवे सो पुरुष सर्वगुरूनतें श्रेष्ठ स्वामी सोही साक्षात् प्रत्यक्ष ईश्वर हैं ॥ २९ ॥

मू० तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥
इति श्रीस्वात्मरामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं सार्कं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

तस्येति ॥ मुद्रानको उपदेशकर्त्ता गुरूको वाक्य जो आसन कुंभकादिकनको करवेकी रीत योग्य आहार विहार चेष्टादिक विषयरूप जो वाक्य तामें तत्पर आदरवान् होयकरके महामुद्रादिकनको अभ्यास तामें सावधान होय अणिमादिक सिद्धीनकरकें सहित काल जो मृत्यु ताको वंचन जो तिरणो सो प्राप्त होय ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाभाषाव्याख्यायां मुद्राकथनंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

मू० नमः शिवाय गुरवेनादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

प्रथम द्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तं । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रं । 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । नमः प्रह्वी भावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः । बिंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति । 'नादानुसंधानसमाधिभाजमि'त्यादिना ॥ १ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते ॥ अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीम-

॥ भाषा ॥

प्रथम द्वितीय तृतीय जे उपदेश तिनमें कहे आसन कुंभक मुद्रा इनको फलभूत राजयोग ताय कह्यो चांहे एसे स्वात्माराम हें सो विघ्नकी निवृत्तीके अर्थ शिवजी और गुरु इनमें अभेद जितायो जामें एसो गुरुनमस्काररूप मंगल आचरण करें हें ॥ नमः शिवायेति ॥ सुखरूप ईश्वरतें अभिन्न और गुरू कहिये उपदेशके देवेवारे एसे शिवस्वरूप जो गुरू तिनके अर्थ नमस्कार हो केसे हें शिवरूप गुरू घंटानादको सो शब्द जाको एसो नादबिंदु जो अनुस्वार और कला नादको एकदेश ये हे आत्मा कहिये स्वरूप जाको और शिवस्वरूप गुरूनमें नित्यप्रति परायण जो पुरुष सो मायाकी उपाधिरहित शुद्ध योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य पद जो ब्रह्मपद ताय प्राप्त होय ॥ १ ॥

अथेति ॥ आसन कुंभक मुद्रा इनके कहेके अनंतर अब प्रत्याहारादिरूप समाधि-

॥ टीका ॥

स्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमं । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्रकारेषूत्कृष्टं । पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हंति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायं प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंदकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदेनात्यंतिकब्रह्मानंदप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरं । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ 'जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते' इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेऽतःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावात्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवासिद्धं । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयंते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्विकत्वनिश्चयात् । अताक्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्विक इति । दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्विकः । जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

क्रम ताय विवेचनाकरके कहूं हूं केसो हे समाधिक्रम श्री आदिनाथने कहे संपादन करे कोटिन समाधिके प्रकार तिनमें श्रेष्ठ हे फिर केसो हे समाधिक्रम मृत्यु जो काल ताकूं निवारण करे योगी समाधिके प्रभावतेंही अपनी इच्छापूर्वक देहत्याग करे हे और तत्त्वज्ञानको उदय मनकी वासनाको क्षय इनकरके जीवन्मुक्ति सुखको उपाय कहा प्राप्तीको साधन हे फिर केसो हे समाधिक्रम प्रारब्ध कर्मको क्षय होय फिर जीव और ब्रह्मको भेद दूर होय फिर आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिको करवेवारो हे ॥ २ ॥

मू० राजयोग समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मापरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह ॥ राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ३।४ त्रिभिःसमाधिमाह ॥ सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ यद्वद्यथा सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

अब समाधिके पर्याय कहें हें ॥ राजयोगेति श्लोकद्वयेन ॥ राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्वं, लय, शून्याशून्यपरंपद ॥ ३ ॥ अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या ये सब समाधीकेही वाचक हें ये भेद आगे कहे हें ॥ ४ ॥

सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ जेंसें सिंधुदेशमें हुयो सो सेंधव लवण सो जलमें योगकरकें जलकोई समान भाव होय जाय हे तेसेंही आत्मामें लगायो जो मन सो आत्माकी समान होय हे और आत्मा और मन इनके ऐक्य होनो ताकूं समाधी कहे हें ॥ ५ ॥ जब प्राण क्षीण होय मनमें लीन होय तब अमरभावकूं प्राप्त होय ताकूंबी समाधि कहें हें ॥ ६ ॥ और जीवात्मा और परमात्माको सम ऐक्यभाव होय हे तब नष्ट होय हें सर्व संकल्प जाके ताकूं समाधि कहें हें ॥ ७ ॥

मू॰ राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥
विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अथ राजयोगप्रशंसा ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति। न कोऽपि जानातीत्यर्थः। तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह। ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवे मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते। राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण षिण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः। तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यमि' ति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते। दुर्लभा लब्धुमशक्या 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशः। गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुंभकैः। विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते। विचित्रैरनेकप्रकारैः करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गत-

॥ भाषा ॥

अब राजयोगकी प्रशंसा कहें हें ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगको माहात्म्य जो प्रभाव ताय तत्वकरकें कोई नही जाने हे. ज्ञानमुक्ति स्थिति जो जीवन्मुक्ति और सिद्धी जो अणिमादिक ये सब गुरूनके वाक्यकरकें राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ उत्तम गुरूनकी कृपाविना विषय त्याग भोगवेकी इच्छाको अभाव दुर्लभ हे. तत्वदर्शन आत्माको परोक्ष अनुभव दुर्लभ हे. सहजावस्था जो तुर्यावस्था सोबी दुर्लभ हे. और गुरुकी कृपाकरकें तो संपूर्ण सुलभ है ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ नानाप्रकारके आसन मत्स्येंद्रादिक और नानाप्रकारके कुंभक और

मू० उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

निद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्नोति । व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुंडलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनि बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेदि' ति च श्रुतेः । सुषुम्नेति ॥ प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति

॥ भाषा ॥

नानाप्रकारकी महामुद्रादिक इनकरकें महाशक्ति जो कुंडलिनी सो जब जाग उठे हे तब प्राणवायु शून्य जो ब्रह्मरंध्र तामें लयकूं प्राप्त होय हे ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्न हुयो हे कुंडलीको बोध जिनके दूर किये हें समग्र कर्म जाने ता योगीके आसनकरकें देहके व्यापार दूर होय जाय और प्राणेंद्रिय इनमें व्यापार स्थित रहे हे और प्रत्याहार धारणा ध्यान संप्रज्ञात समाधि इनकरकें मनके व्यापार दूर होय जाय तब बुद्धीमें व्यापार स्थित रहे हें तब सत्वगुणरूपा बुद्धी होय हे वैराग्यकरकें दीर्घ काल संप्रज्ञातके अभ्यासकरकें बुद्धीके व्यापार दूर होय जाय तब निर्विकार स्वरूपमें स्थिति होय हे याकूं सहजाऽवस्था कहें हे. और याहीकूं तुर्यावस्था कहें हें और या योगीकूं जीवन्मुक्ति अपने आप और यत्नकरे विनाई प्राप्त होय हे ॥ ११ ॥

सुषुम्नेति ॥ और जब प्राणवायु सुषुम्ना जो मध्यनाडी तामें चलन लगे हे तब अंतःकरण शून्य जो ब्रह्म तामें प्रवेश करजाय ता कालमें योगवेत्ता संपूर्ण जे प्रारब्धकर्म तिनें निर्मूल करे हे ॥ १२ ॥

मू० अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥
चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥
ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनोम्रियते न यावत् ॥

॥ टीका ॥

मानसेंऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूलशब्दा 'तत्करोती'ति णिच् ॥ १२ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति ॥ अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः। सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतदृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः । सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह ॥ चित्त इति ॥ चित्तेंऽतःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यंतीति भावः ॥ १४ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो

॥ भाषा ॥

अब समाधिके अभ्यासकरकें प्रारब्धकर्मकूं तिरस्कार करे हे यातें जीत्यो हे काल जाने ता योगीकूं नमस्कार करें हें ॥ अमरायेति ॥ जा कालके मुखमें थावर जंगम सहित संसार पड्यो हे वो काल जगतकूं भक्षण करे हे और काऊतें निवारण नही होय सो काल मृत्यु तुम योगीनकरकें तिरस्कार कियो गयो एसे अमरयोगी जो तुम ता तुह्मारे अर्थ नमस्कार हो॥१३॥

चित्त इति ॥ चित्तजो अंतःकरण सो आत्मामें समभावकूं प्राप्त होय जाय और प्राणवायु सुषुम्नामें चलवे लगजाय तब अमरोली वज्रोली सहजोली प्रगट होय हें ॥ १४ ॥

हठाभ्यास विना ज्ञान मोक्ष नही सिद्ध होय हे ये कहें हें ॥ ज्ञानमिति ॥ इडा पिंग-

मू० प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

जीवति । अपिशब्दादिंद्रियाणि जीवंति न तु म्रियंते । यावन्मनो न म्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिंद्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणेंद्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे । 'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव ही' ति । नानामार्गैः सुखदुःखमार्यं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितमि'ति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धं । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धं । तथाहि अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योग इति तद्दर्शनमात्मदर्शनं । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाती'ति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद'इति 'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिंद्रयधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवती'ति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्माद्वयेन प्रतरेत

॥ भाषा ॥

लान कर वायु चले ये प्राणको जीवन हे और इंद्रिय अपने अपने विषयनकूं ग्रहण करे ये इंद्रीनको जीवन हे और अनेक विषयनकी वृत्तीनकूं प्रगट करनो ये मनको जीवन हे तो जब तांई प्राण जीवे हें इंद्रिय जीवे हें जब तांई मन जीवे हे ये सब जब तांई मरें नही तब तलक ज्ञान जो आत्माको परोक्ष अनुभव नही होय और प्राण और मन इन दोनोनकूं जो योगी नाश करदे सो योगी मोक्षकूं प्राप्त होय और नही लीन हे प्राण जाको और नही लीन हे मन ज़ाको वो पुरुष सौ उपाय करकेंबी मोक्षकूं नही प्राप्त होय ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानी'ति । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानमित्याद्याः श्रुतयः । यतिधर्मप्रकरणे मनुः । 'भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ । 'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणां । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः । 'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः । योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैशां स्त्री शूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये॥' दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तं । 'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटमि' त्याद्याः स्मृतयः । महाभारते योग मार्गे व्यासः । 'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरःसेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् । अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते' इति । भगवद्गीतायां ।'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानमि' त्यादि च । आदित्यपुराणे । 'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ।' स्कंदपुराणे । 'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम् । 'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभं । येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतमिवेश्वरम् । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् । प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥' गरुडपुराणे । तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृत्तिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य नैवदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् । आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥' विष्णुधर्मेषु । 'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥' वासिष्ठे । 'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका । योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥ ' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः

॥ टीका ॥

कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम् । अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुसघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयचित्त्वतत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्घटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । नत्विंद्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वेऽव्यभिचारात् । अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यभावन्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जूरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतींद्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु नकिंचित्प्रयोजकत्वमिति, तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इंद्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिंद्रियत्वं मनस इंद्रियत्वे बाधकाभावादिंद्रियाणां मनोनाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिंद्रियत्वं तत्त्वं च षट्स्वखंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धींद्रियमि' ति 'प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियमि'ति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपींद्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं चे' ति गीतावचनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वा 'द्यजेते' त्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधनेन सत्प्रतिपक्षः । न चेदमप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवम्

॥ टीका ॥

लकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम् । अपि च मननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । इत्येतेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः' इति यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि । तथाहि । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः । यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारः । तथात्रापि । नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्चमनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात् । किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम् । शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव । एवं स्थिते 'मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यमि' त्यादिश्रुतयोऽप्यांजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तं । दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यंत इति तदतीव विचारासहम् । यतः प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । 'कामः संकल्पो विचिकित्से' त्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन् । पूर्वं द्वितीयवल्ल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंका

॥ टीका ॥

निवारयितुं 'मनसैवानुद्रष्टव्यमि' त्यादि सावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षं । तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात् । नापि स्मरणं । तेषां पूर्वविशिष्यानुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपं । अपसिद्धांतात् । नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यं । तेषामसन्निकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इंद्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयंति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धं । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः । अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे । "ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्" तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र वादरायणकृतं भाष्यं । श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति । योगबीजे । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।' किंच । 'तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्ये' ति श्रुतेः । 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भुतवैक्लव्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे । 'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकार-

॥ टीका ॥

रणम् । देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः । पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥' इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरं । तदुक्तं भगवता । 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।' इत्यादिना । 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शक्यम् । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते । 'देव्युवाच । ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी । गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच ॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते । यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् । ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा । ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा ॥ न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ॥ सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् । विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् । तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥' इत्यादि । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि ॥ 'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः । संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलबकादयः । मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी । एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि । ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥' इति । किंच । पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति । तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः । तथाहि । हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते । यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तद्योगिपरं । तदुक्तं गरुडपुराणे । "योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादृतः । योगस्य प्राप्तये तेषां

मू० ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥
सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥
भोक्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

शूद्रवैश्यादिकक्रमः । स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् । ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् । अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेदि' ति । शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्तिं लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यंत इति सिद्धं । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेवे' त्यादि भगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तं । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह ॥ ज्ञात्वेति ॥ सदेव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे । 'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह ॥ सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्या-

॥ भाषा ॥

ज्ञात्वेति ॥ सदा सर्वदा सुंदर राज्यहोय धर्मात्मा देश होय सुंदर स्थान होय तहां निवास करके फिर सुषुम्ना मध्यनाडीके सुंदर भेदन प्रकार गुरुमुखसें जानकरकें प्राणवायुकूं मध्यनाडी सुषुम्नामें चलन लगे एसो करकें फिर ब्रह्मरंध्रमें लय करदे प्राणको लय होतेंही मनकोबी लय होय है ॥ १६ ॥

अब प्राणको लय होय तब कालकोबी जय होय है ये कहें हैं ॥ सूर्यचंद्रमसावि-

मू० द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रमसौ ॥ "देवताद्वंद्वे चे" त्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवं । 'अचतुरे' त्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितं । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तं 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्ये'ति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्यस्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति॥१७॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिकासप्ततिः

॥ भाषा ॥

ति ॥ सूर्य चंद्रमा ये दोनो रात्रि दिवस रूप जो समय ताय करें हें और सुषुम्ना जो सरस्वती सो सूर्यचंद्रमाकरकें कियो गयो जो रात्रिदिवात्मक काल समय ताकूं नाशके करवेवाली हे. ये गोप्य कह्यो हे याको भाव ये हे. ढाई घडी सूर्य चले हे और ढाई घडी चंद्रस्वर चले जब सूर्य चले हे तबतो दिन कहे हें और जब चंद्र चले हे तब रात्रि कहे हें पांच घडीको रात्रिदिवात्मक काल होय हे लौकिक मनुष्यनको रात्रिंदिन तामें द्वादशदिन रात्रिरूप काल होय हे एसें कालके प्रमाणकरके जीवनको आयु प्रमाण हे जब सुषुम्नामार्गकरकें वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होय हे तब रात्रिदिवसात्मक कालको अभाव रहे हे यातेंही सुषुम्ना कालकी नाशकर्त्ता कही जबताईं ब्रह्मरंध्रमें वायु लीन होय तितनें योगीकी आयु बढे. और दीर्घकाल तांई समाधिको अभ्यास करबेवालो योगी पूर्वही मरणकाल जानकरकें ब्रह्मरंध्रमें वायुकूं प्राप्तकरकें कालकूं निवारण करे फिर देहत्याग अपनी इच्छासूं करे हें ॥ १७ ॥

द्वासप्ततीति ॥ पिंजराकीसीनाईं नसेंकरके बंधो जो शरीर तामें बहत्तर हजार नाडीनकें

मू० वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

॥ टीका ॥

द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी । ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थःप्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः । पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुंडलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

॥ भाषा ॥

द्वार वायुके प्रवेशमार्ग हे. और सुषुम्ना शांभवी शक्ती हे भक्तनकूं शं जो सुख सो जातें होय सो शंभू ईश्वर ताकी ये शक्ती तासूं शांभवी नाम हे ध्यानकरकें शंभूकूं प्राप्त करे हे वा शंभूकूं प्रगट करे हे यातें शांभवी नाम हे. अथवा शं कहिये सुखरूप स्थित होय सो शंभू नाम आतमा ताकी शक्ति यें चैतन्यकूं ध्यानकरकें ही आत्मसाक्षात्कार करे हे याते शांभवी नाम हे. और जे इडा पिंगलादिक नाडीतें गयो हे प्रयोजन जिनको एसी निरर्थक हे ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ अभ्यास कियो जो वायु तातें जाठराग्निकरकें सहित कुंडली ये बोधकरायकरकें और काऊकरकें रुके नही एसे वायुकूं कुंडली सरस्वतीमें प्रवेश करे वायुकूं सुषुम्नामें प्रवेशके अर्थ अभ्यास करनो योग्य हे ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणवायु सुषुम्नामें चलवे लगजाय तब मनोन्मनी उन्मनी अवस्था सिद्ध

मू० पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनः पवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किं तदित्याह वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे । 'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पंदनवासने । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तं । 'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंशयः । यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् । यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ॥ यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः । तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः । त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ॥ तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः' ॥ इति ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

होय हे. नही तो प्राण सुषुम्नामें नही वहे तो सुषुम्ना विना और जे अभ्यास हें ते योगीनके श्रमके अर्थ हें ॥ २० ॥

पवन इति ॥ जा योगीकरकें प्राणवायु बद्ध कियो जाय ता योगीकरकें मन बद्ध होय हे. और जाकरकें मन बद्ध होय हे ताकरकें प्राणवायु बद्ध होय हे ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तकी प्रवृत्तिमें दोय कारण हे कोनसे एकतो वासना और एक प्राणवायु इन दोनोंनमेंसें एकबी क्षीण होय तो दोनोही नाशकूं प्राप्त होंय ये. भाव हे वासनाको क्षय होय तो प्राण और चित्त दोनोंही क्षीण होंय. और प्राण क्षीण होय तो चित्त और वासना ये दोनो क्षीण होय हें. और चित्त क्षीण होय तब प्राणवायु और वासना ये दोनों क्षीण होय हें ॥ २२ ॥

मू० मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥
दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२५

॥ टीका ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः । तुल्यक्रियत्वमेवाह । यत इति । यतःयत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनःप्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे । 'अविनाभाविनी नित्यं जंतुनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते । कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तममि'ति ॥ २४ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्ल-

॥ भाषा ॥

मन इति ॥ जा आधारमें मन लीन होय ताही आधारचक्रमें पवन लीन होय और जामे पवन लीन होय तामें मन लीन होय हे ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ और जल दुधकीसी नाई मिले हुये चित्त और प्राण ये दोनो समान हे प्रवृत्ति जिनकी एसे होंय हें अब इनकी समान प्रवृत्ति कहें हें जा चक्रमें वायु वर्त्ते हे तामें मनकी प्रवृत्ति होय हें और जा चक्रमें मन वर्त्ते हे ता चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होय हे ॥२४॥

तत्रेति ॥ मन और प्राणवायु इन दोनोंनमेंसूं एकके लयतें दूसरोबी लय होय जाय एसेंही एक मनकी अथवा पवनकी प्रवृत्ति होय तो दूसरेकी बी प्रवृत्ति होय जाय मन और पवन ये दोनो नही लीन होय तो इंद्रीनके समूहकूं अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति होय हे. और मन प्राणवायु ये दोनों प्रकर्षकरके लीन होय जाय तो मोक्षपदकी सिद्धी

मू० रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६ ॥
मूर्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ! ॥ २७ ॥

॥ टीका ॥

यादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति। एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापाराद्परप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति । अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिंद्रियवर्गवृत्तिरिंद्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति । प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः । 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥' योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य भावतः स्वभावाच्चंचलत्वं चांचल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

तदेवाह ॥ मूर्छित इति ॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्छितः कुंभकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्छित इत्युच्यते । हे पार्वतीति पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यं । मूर्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

होय अर्थात् इन दोनोंनके लय होयवेसूं पुरुषकूं स्वरूपमें स्थिति होय है ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ पारेकूं और मनकूं स्वभावतेंही चंचलपनो हे. और पारो बंध जाय और मन बद्ध हो जाय तो पृथ्वीतलमें वा प्राणीकूं सर्वसिद्धी होय हे ॥ २६ ॥

वही कहतेहै मूर्छित इति ॥ औषधीके योगकरकें चपलता जाकी जाती रही एसो पारो सो मूर्छित बाजे हे. और कुंभकके अंतमें रेचक करे ये वायु मूर्छित कहें हें. शिवजी कहें हें हे पार्वती ! मूर्छित पारदकी भस्म रोगनकूं दूर करे हे. और मूर्छित वायु फिर ब्रह्मरंध्रमें

मू० मनःस्थैर्यें स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥
इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनः प्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

तदुक्तं गोरक्षकशतके । 'यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणे'ति ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थैर्याद्बिंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोंऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

सोऽयमिति॥सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनि-

॥ भाषा ॥

लीन हुयो मृतपुरुषकूं अपनी सामर्थ्यकरकें दीर्घकालतांई जिवावे हे. और क्रियासूं गुटिकाके आकारकरकें बंधो हुयो पारो मोढेमें धारण करेसूं आकाश गती करे हे. और धारणकरकें भृकुटीके मध्यमें धारण कियो और बंधो हुयो वायु आकाश गतीकूं करे हे ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मन स्थिर होय तो प्राण स्थिर होय हे. और वायुके स्थिर हुयेतें वीर्य स्थिर होय हे. वीर्य स्थिर होयवेसूं सर्वदा बल देह स्थिर होय हें ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रिय जे श्रोत्रादिक तिनको अंतःकरण नाथ हे. अर्थात् प्रवर्त्तको करवेवालो हे. और मनको नाथ प्राण हे. और प्राणको नाथ लय और लय जो हे सो नादकूं आश्रय करे हे. अर्थात नादमें मन लीन होय हे ॥ २९ ॥

सोयमिति ॥ नादमें चित्तको लय सोही मोक्ष हे. और मतांतरमें एसो कहे हें सुषुप्ती

मू॰ प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

र्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोऽतःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

अवस्थामें चित्तको लय हे सोबीमोक्ष हे. ताये कहे हें ये मोक्ष नहीं हें. क्योंके मन प्राण इनको लय होय हे तब कोईसूंवी नही कहवेमें आवे एसो आनंद प्रवृत्त होय हे. जब अनिर्वाच्य आनंद प्रगट होय हे तब जीवन्मुक्ती सुख होय हे. यामें संदेह नहीं हे ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ दूर हुयो हे श्वास निश्वास जामें बहारकी वायुकूं भीतर खेंचनो सो श्वास और भीतरकी वायुकूं बहार निकासनो सो निश्वास और दूर हुयो हे विषयनकूं ग्रहण करनो जामे देहकी क्रिया जामे दूर हुई निर्विकार एसो योगीनको लय अंतःकरणकी वृत्तीकूं ब्रह्मप्राप्तीके अर्थ संपूर्णतें उत्कर्षकरकें वर्त्ते हें ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ नष्ट हुये हें संपूर्ण संकल्प जामें निवृत्त हुई हे संपूर्ण चेष्टा जामें और आपकरकें ही जानवेकूं समर्थ और वाणीसूं कहवेमे नही आवे एसो विलक्षण लय योगीनकूं प्रगट होय हे ॥ ३२ ॥

मू० यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥
लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह ॥ अपुनरिति ॥ अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ जा ब्रह्ममें अंतःकरणकी वृत्ती होय ता ब्रह्ममें लय होय हे. और पंचमहाभूत और दशो इंद्रिय ये निरंतर जामें रहें एसी अविद्या और प्राणीनकी शक्ती विद्या ये दोनो योगीनकै ब्रह्ममें लय होय हे ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ बहोतसे जन या लयकूं लय कहें हें और लयको स्वरूप कहा हे सो कहें हें. फिर वासनाको उदय नहो तातें शब्दादिक विषयनकी विस्मृति होय ताकूं लय कहें हें ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ च्यारों वेद और छे शास्त्र अठारे पुराण ये वेश्याकीसी नाई हे. क्यों बोहोत पुरुषनकूं प्राप्त हें. यातें और शांमवी मुद्रा एकही हे ये कुलकी स्त्रीकीसीनाई गोप राखवेकूं योग्य हे ॥ ३५ ॥

मू० अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥
अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ॥३७॥

॥ टीका ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः । कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यामवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभि-

॥ भाषा ॥

अंतर्लक्ष्यमिति ॥ भीतर आधारसूं लेके ब्रह्मरंध्रपर्यंत जे चक्र तिनके मध्यमें अपुनकूं वांछित चक्र तामें जो लक्ष्य कोन ब्रह्म तामें अंतःकरणकी वृत्ति और देहतें बहार जो दृष्टि सो पलकनको खोलनो मूदनो तिनकरकें वर्जित दृष्टि होय सो ये शांभवी मुद्रा हे केसी हे. ऋग्वेदकूं आदि ले वेदनमें और शास्त्रजो सांख्य पातंजलादिक तिनमें गुप्त हे ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्येति ॥ जब भीतर अनाहत चक्रादिनमें जो लक्ष्य जो सगुण ईश्वरकी मूर्ति अथवा ब्रह्म तामें लीन हुयो हे मन और प्राण जाके एसो योगी स्थिर हे भीतरली दृष्टि जाकी एसी दृष्टिकरकें देहके बहार नीचो ऊंचो देखे हे तोहु बहारके विषयनकूं नहीं ग्रहण करे हे, ये शांभवी मुद्रा हे सो ये गुरुनकी कृपासूं प्राप्त होय हे तब शांभवीमें प्रकाशमान पद और वास्तव वस्तु सो प्रतीतमें आवे हे ॥ ३७ ॥

मू० श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥
तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भुवौ ॥

॥ टीका ॥

अमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्यां तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तं । 'अन्तर्लक्ष्मनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्यन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाम्भवी ॥ गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानंदस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशेभेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

उन्मनीमुद्रामाह ॥ तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषी तारयोर्नासाग्रे

॥ भाषा ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके अवस्था और धाम इनके भेदकरके रहित चैतन्य आनंदरूप आत्मा तामें चित्तको लय ताको आनंद होय हे ॥ ३८ ॥

उन्मनी मुद्रा कहे हे ॥ तारे इति ॥ दृष्टी नासिकाके अग्रमें युक्त करेमूं प्रकाश-

मू० पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९
केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥ ४० ॥
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पंदभावेन यः ॥

॥ टीका ॥

योजनात्प्रकाशमाने तेजिसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽतर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽतःकरणं युंजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारण उन्मन्यवस्थाकारको भवति ॥ ३९ ॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह ॥ केचिदिति ॥ केच्छिास्त्रतंत्रादिविदः आगच्छंति बुद्धिमारोहंत्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालैर्जालवद्बंधनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यंति मोहं प्राप्नुवंति । तत्रासक्ता बध्यंत इति भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मुह्यंति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यंति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानंति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानंतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धं उन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन

॥ भाषा ॥

मान तेज होय हे तामेंही दृष्टीकूं युक्त करकें कछूक भृकुटीकूं ऊंची चढावे पहलें कह्यो अंतर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग जामें एसो अंतःकरणकूं युक्त करे तो योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्था होय हे ॥ ३९ ॥

उन्मनी विना और तिरवेको उपाय नही हे कहें हें ॥ केचिदिति ॥ जे कोई शास्त्र तंत्रादिकनके वेत्ता हें ते शास्त्र तंत्रादिकनके फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय हें और जो कोई वेदके जानवेवारे हें ते वेदमें कहे जे बहोतसे फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे न्यायशास्त्री हें ते तर्ककरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे हें और पूर्व कही जो उन्मनीही तरणको उपाय ताय नही जाने हे ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ आधे खोले हें नेत्र जाने और स्थिर हे मन जाको और नासि-

मू॰ ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥
दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

स अर्धोन्मीलितलोचनः अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यंते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाह वसिष्ठः । 'द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंऽबरे । संविद्दशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते' इति । निस्पंदस्य निश्चलस्य भावो निस्पंदभावः कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चंद्रार्कौ चंद्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक् । 'मनो यत्र विलीयेते' त्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशकं परं कायेंद्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपं एति प्राप्नोति । उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यं । अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह ॥ दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं

॥ भाषा ॥

काके अग्रभागमें लगाये हें नेत्र जाने और कर्मेंद्रिय और मन इनके निश्चल भावकरके चंद्रमा सूर्य ये लय करत योगी ज्योतीकीसीनाई अखिल विश्वकूं प्रकाश करवेवालो संपूर्णको कारण पूर्णरूप अतिशयकर प्रकाशके करवेवालो स्वप्रकाश करवेवालो वास्तव वस्तुरूप योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य संपूर्णतें उत्कृष्ट परमपद जो आत्मस्वरूप ताय प्राप्त होय हे. और वस्तु प्राप्त होय ताको कहनो कहा ॥ ४१ ॥

दिवा नेति ॥ सूर्यस्वर चले तामें आत्माकूं ध्यान नही करे. और चंद्रस्वर चले तामेंबी आत्माकूं ध्यान नही करे. क्यों चंद्र सूर्य वायु चले तब स्थिर चित्त नही रहे हे. तासूं सूर्य चंद्र ये दोनोनकूं रोककरकें आत्माकूं सर्वकालमें ध्यान करे इनके रोकेतें सुषु-

अथ खेचरी ॥

मू० सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

॥ टीका ॥

सर्वकारणमात्मानं । 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनं । तदुक्तं वासिष्ठे । 'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेनैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तमि' त्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगं आत्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तं । 'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

खेचरीमाह ॥ सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे'त्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खं । कर्तृ । अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

॥ भाषा ॥

म्नामें अंतर्गत प्राण होंय हे तब मन स्थिर होय हे यातें ॥ ४२ ॥

अब खेचरीमुद्रा कहें हें ॥ सव्येति ॥ वामदक्षिण नाडीनमें स्थित वायु जा भृकुटीके मध्यदेशमें गमन करें हे ताही स्थानमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडा पिंगलाके मध्यमें जो आकाश सो प्राणवायुकूं ग्रास करे हे. शून्य जो आकाश तामें प्राणवायु स्थिर होय हे. ताकूं ही ग्रास कहे हें. ता शून्यमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे. ये सत्य हे ॥ ४४ ॥

मू० सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥
सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तं 'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ सोमाच्चंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् । जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थाजनिका । न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

॥ भाषा ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्य चंद्रमा जो इडा पिंगला तिनके मध्यमें जो सबले आकाशनको समूह तामें जो स्थित सो मुद्रा खेचरी नाम कहें हें ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ चंद्रमातें जा खेचरीमें अमृतधारा प्रगट हुई वो खेचरी शिवजीकूं बडी प्यारी हे. निर्मल और सर्वनाडीनमें उत्तम एसी सुषुम्ना ताय भीतर मुखमें जिह्वाकरकें रोक देवे ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ बहारतें सुषुम्नाकूं प्राणकरकें जो रोक देवे तो निश्चैंही खेचरी नाम मुद्रा होय हे और जो बहार प्राणकरकें नही रोके भीतरही जिह्वामात्रकरकें रोक देवे तो मूढ अवस्थाकूं प्रगट करे हे. निश्चै खेचरी मुद्रा नही होय. खेचरी मुद्राबी अभ्यास करे तें उन्मनी होय हे. और चित्तकूं ध्यान करवेके योग्य वस्तूके आवेशसूं तुर्यावस्था होय हे ॥ ४७ ॥

मू० भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥
अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥
निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते । शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः । तदुक्तं । 'भोक्त्रि सुषुम्ना कालस्ये' ति ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिद्रितः । योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्न्याकाशे घटवत्ति-

॥ भाषा ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुकुटीके मध्यमें शिवजीको स्थान हे ता शिवमें मन लीन होय हे वो चित्तलयरूप जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति इनतें तुर्य पद जाननो योग्य हैं. ता पदमें काल जो मृत्यु सो नही प्राप्त होय हे ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ संपूर्ण वृत्तीनको निरोध जबतांई होय तबतांई खेचरी मुद्राको अभ्यास करे सर्ववृत्ती जाकी रुक गई ताकूं कदेबी काऊ समयके बीचमेंबी काल जो मृत्यु सो नहीं होय ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ जो योगी आश्रयरहित मनकरकें कछूबी चिंतमन न करे सो योगी बहार भीतर आकाशमें घटकीसी नाई स्थित निश्चयही रहे हे. जेसें घटमें भीतर और

मू० बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥
एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥
अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥

॥ टीका ॥

ष्ठति ध्रुवं । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्यां । तस्यांतःप्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य वहिःप्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकं । 'द्वंद्वश्च

॥ भाषा ॥

बहार आकाश पूर्ण हे तेसेंही खेचरी में आलंबन परित्यागकरकें योगी ब्रह्मकरकें पूर्ण स्थित रहे हे ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ देहतें बहार जो वायु हे सो जेसें लीन होय हे खेचरीमें ता वायुकूं भीतर प्रवृत्तिको अभाव हे तेसेंही देहमें रहे जो वायु सो लीन होय हे ता वायुकूं बहार प्रवृत्तिको अभाव हे यामें संदेह नही हे प्राणके स्थिर होयवेको स्थान ब्रह्मरंध्र तामें मनकरके सहित प्राण स्थिर होय जाय हे ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ या प्रकारकरकें वायुमार्ग जो सुषुम्ना तामें रात्रिदिन अभ्यास कर रह्यो ता योगीकूं अभ्यासतें जा आधारमें वायु लीन होय हे, और वायु जामें लीन होय हे तामेंही मन लीन होय हे ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ पामतें लेकर मस्तक पर्यंत देहकूं अमृतकरकें सींच देवे उत्कृष्ट हे

मू० सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥

इति खेचरी ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

प्राणितूर्यसेनांगानामि'त्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव । अमृताप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३॥

शक्तिमध्य इति ॥ शक्तिः कुंडलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुंडलीं बोधयित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सहे'ति गोरक्षोक्तेः । मनसांतः करणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

खमध्य इति ॥ खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं ब्रह्मेति ध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

देह जाको महान हे बल पराक्रम जाके एसो योगी वा अमृतके सींचवेकरकें सिद्ध होय हे ॥ ५३ ॥

शक्तिमध्य इति ॥ कुंडलिनीमें मन धारणकरकें और मनमें कुंडली धारणकरकें कुंडलिनीके ध्यानावेशतें शक्ति मनकी हे एसें कुंडलिनी और मनकूं एककरकें कुंडलीकूं बोध करायकरकें अंतःकरणकरकें मनकूं देखकरकें सर्वोत्कृष्ट स्वरूप ताय धारण करे ॥ ५४ ॥

खमध्य इति ॥ आकाशकीसी नाई पूर्ण ब्रह्म हे सो ब्रह्ममें अपनो स्वरूप जो आत्मा ताय करे ब्रह्माहं या प्रकार भावना करे और अपनो स्वरूप जो आत्मा तामें पूर्णब्रह्म करे अहंब्रह्म या प्रकार भावना करे फिर संपूर्ण ब्रह्ममय भावनाकरकें फिर कछूबी चिंतमन न करे अर्थात् अहंब्रह्म ये जो ध्यान तायबी त्याग करदे ॥ ५५ ॥

मू० अंतःशून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अंतः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥
बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५७ ॥
संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं

॥ टीका ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह ॥ अंतःशून्य इति॥ अंतः अंतःकरणे शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः । बहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः । द्वितीयादर्शनात् । अंबरे आकाशे कुंभो घटो यथांतर्बहिःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा । बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः । सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अर्णवे समुद्रे कुंभो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः । बाह्यचिंता बाह्यविषया चिंता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचिंतनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः । सर्वचिंतां बाह्याभ्यंतरचिंतनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत् । तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति । सं-

॥ भाषा ॥

अंतःशून्य इति ॥ अंतःकरणमें बी शून्यहे क्यों ब्रह्मतें न्यारो कछू नही हे. और अंतःकरणतें बहारबी शून्य हे क्यों ब्रह्मतें दूसरो दीखेही नही हे यातें यामें दृष्टांत हे जेसें आकाशमें घट घटके भीतरबी आकाश हे और घटके बहारबी आकाश हे और अंतःकरणमेंबी पूर्ण क्यों ब्रह्मको सद्भाव हे. यातें और बहारबी पूर्ण हे क्यों ब्रह्मकरकें पूर्ण हे. यातें यामें दृष्टांत जेसें समुद्रमें कुंभ बहारबी जलभर रह्यो और भीतरबी जलभर रह्यो एसेंही समाधिनिष्ठ योगी ब्रह्मकरकें पूर्ण होय हे ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ योगीकूं बहारकी विषय चिंता नही करनो योग्य हे. एसेंही भीतर मनकरकें कल्पना करे जाय अनेक चिंतमन सो नही करनो योग्य हे. बहार भीतरकी चिंता परित्यागकरकें कछूबी नही चिंतमन करे ॥ ५७ ॥

बहार भीतर चिंताके परित्याग करवेमें शांतिहोय हे यामें वसिष्ठको वाक्य रामजी

संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥
कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥
ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥

॥ टीका ॥

कल्पेति । संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिःसत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह । निर्विकल्पमिति । विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हेराम! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण । 'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखमि'ति ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ यद्वद्यथाऽ नलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सैंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः ॥ ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं

॥ भाषा ॥

प्रति कह्यो ताको प्रमाण दे हैं ॥ संकल्पेति ॥ बाह्य प्रपंच मनोमात्र कल्पित है. और मनको जो प्रपंच अनेक विकार रूप सोबी संकल्पमात्रकरकें हीं रचना हे. और बहार भीतर जो प्रपंच तामें जो सत्यबुद्धि ताय त्याग करो भेदरहित जो आत्मा ताय आश्रय लेकरके हे राम ! निस्संदेह शांति सुख ताय तुम प्राप्त होओगे ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ जैसें अग्नीमें युक्त कियो कपूर अग्नीके आकार होय जाय हे और जलमें धर्‍यो लवण सो लवणके आकारकूं परित्यागकरकें जलाकार होय जाय हे. तैसेंही मनकूं आत्मामें लगावें तो मन आत्माकार होय हे ॥ ५९ ॥

ज्ञेयमिति ॥ संपूर्ण ज्ञानके योग्य प्रतीतमें आप रह्यो. ओर ज्ञान सो मनकूंही कहें हे.

मू० ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥ ६० ॥
मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्दैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

॥ टीका ॥

ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनः शब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सहवर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यं । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतेस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतायेत । द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात् । हि तद्धेतावव्ययम्॥६१॥

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

॥ भाषा ॥

मनको लय होतें ही द्वैत जो प्रपंच ताकोबी लय होय हे ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ स्थावर जंगम सहित जो जगत् सो संपूर्ण मनके संकल्पमात्रकरकें हे सो मनके लयतें प्रपंचभेद नही प्रतीतमें आवे हे ॥ ६१ ॥

ज्ञेयमिति ॥ स्थावर जंगम सहित दृश्यवस्तु जो जगत् ताके परित्याग करेतें मनबी सच्चिदानंदरूप आत्माकार होय हे. और मनके लय होतेंही अद्वितीय आत्मस्वरूप अवशेष रहे हे ॥ ६२ ॥

मू॰ एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥
सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चंद्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥
अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥

॥ टीका ॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति ॥ सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना मध्यनाडी तस्यै कुंडलिन्यै आधारशक्त्यै चंद्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्यास्तस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै । महती जडानां कायेंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्त्वा नादानसंधानुरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते ॥

॥ भाषा ॥

एवमिति ॥ या प्रकार समाधिकरकें शुद्ध हे अंतःकरण जिनके एसे महात्मा पूर्व आचारी तिनने नानाप्रकारके साधन जिनके संदेह रहित आत्माको अनुभव ताकरकें युक्त समाधिके मार्ग कहे हें ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना जो मध्यनाडी ताके अर्थ नमस्कार हे. और कुंडलिनीके अर्थ नमस्कार हे. सुधारूप तुमारे अर्थ नमस्कार हे. भृकुटीके मध्यमें चंद्रमातें जन्म जाको एसी चंद्रजन्मा तुमारे अर्थ नमस्कार हे. और मनोन्मनी तुमारे अर्थ नमस्कार हे. और चैतन्य हे स्वरूप जाको और संपूर्णमें उत्तम शक्ति पुरुषरूप ता तुमारे अर्थ नमस्कार हो ॥ ६४ ॥

अब नानाप्रकारके समाधिके उपाय तिनें कहकरकें अब नादको अनुसंधानरूप मुख्य उपाय

मू० प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥
श्रीआदिनाथेन सपादकोटि
लयप्रकाराः कथिता जयंति ॥
नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥
मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
श्रुणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

अशक्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तंते । वयं तु नादानुसंधानकं नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह ॥ मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थि-

॥ भाषा ॥

ताय कहें हें ॥ अशक्येति ॥ नही उत्पन्न हें तत्त्वज्ञान जिनकूं और नही अध्ययन किये हें जिनने एसेनकूं संमत हे. और जो अध्ययनके करवेवाले हे तिनकूं प्राप्त होय ताको कहा कहनो. ये गोरक्षनाथनें कह्यो हे. और नादकी उपासनामें अनुसंधानरूप सेवन कहिये हे॥६९

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथ शिवजीनें सवाकोटि चित्तके लय होयवेके साधनभेद कहे हे. ते उत्कर्षकरकें वर्त्ते हे ओर हमतो नादको वारंवार चिंतमन सोही केवल लय साधननके मध्यमें अधिक मुख्य जाने हे. और गोरक्षके अभिमत हे यातें नादको अनुसंधानही अवश्य करनो योग्य हे ॥ ६६ ॥

मुक्तासन इति ॥ सिद्धासनमें स्थित योगी शांभवी मुद्राकरकें एकाग्रचित्तहोत दक्षिण कर्णमें सुषुम्ना नाडीमें स्थित जो नाद ताय श्रवण करे ॥ ६७ ॥

---

१ अत्र संध्यभावः स्वाभाविकोऽवैयाकरणविषयकः

मू० श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥
आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिःसर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

॥ टीका ॥

तो योगी शांभवीं मुद्रा'मंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरि'त्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽतस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये । 'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या' इति ॥६७॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह ॥ श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषां । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि[1] 'द्वंद्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थं । 'अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि चे' ति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते । शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह ॥ आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

॥ भाषा ॥

श्रवणेति ॥ कर्णयुगल नेत्रयुगल नासिका मुख इनकूं हाथकी अंगुष्ठ अंगुलिनकरकें रोकले फिर प्राणायामकरकें मलरहित जो सुषुम्नाको मार्ग तामें निर्मल नाद प्रगट श्रवण करवेमे आवे हे ॥ ६८ ॥

आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था, निष्पत्त्यवस्था संपूर्ण योगनमें ये च्यार अवस्था हें ॥ ६९ ॥

---

१ इयं हि टीकाकर्तुरसत्कल्पना—यत्—महाविभाषायाः सामान्यतो द्वन्द्वे प्रवृत्तौ समाहारस्यैकत्वादेकत्वे सिद्धे पुनर्द्वन्द्वश्चेति योगारम्भणवैयर्थ्यान्यथानुपपत्त्या प्राणितूर्यसेनांगेषु नित्यैकत्वभवनज्ञापनेन प्रकृतवैकल्पिकत्वादिति व्याख्यानमसंगतम् । अपि च—छन्दःसंनिवेशनसारल्यार्थमनेकवद्भाव इति वक्तुं शक्यम् ॥

अथारंभावस्था ॥

मू० ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥
संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान् भवेत् ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था ॥

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥

॥ टीका ॥

तत्रारंभावस्थामाह ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः। आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः। भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः। 'भूषणानां तु शिंजितम्। निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपी' त्यमरः। अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥७०॥ दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाकाशविशुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियंते योगिभिः। संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः ॥ ७१ ॥

घटावस्थामाह ॥ द्वितीयामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटी-

॥ भाषा ॥

अथारंभावस्था ताय कहे हें ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथीको भेदन जब होय हे. तब आनंदको देवेवालो हृदयाकाशमें उत्पन्न हुयो नाना प्रकारके भूषणनके शब्दकी सदृश अनाहत ध्वनी देहमें श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ७० ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्यहृदयाकाशमें नादको आरंभ होय हे और प्राणवायुकरके भर रह्यो हे हृदय जाको अथवा आनंदकरके पूर्ण हे हृदय जाको एसो योगी दिव्यदेह और तेजस्वी दिव्य हे गंध जाके और रोगरहित होय हे ॥ ७१ ॥

अब घटावस्था कहे हें ॥ द्वितीयायामिति ॥ घटावस्थामें प्राणवायु और नादकूं एक-

मू० दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥
विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था ।

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायो मर्दलध्वनिः ॥
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

॥ टीका ॥

कृत्य आत्मना सहापानं नादबिंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कंठस्थाने मध्यचक्रं । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे । 'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनमि' ति । यदाभवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे । 'प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कंठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकैर्भेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कंठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्यां ॥ **तृतीयायामिति** ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥ ७४ ॥

॥ भाषा ॥

करकें कंठस्थानमें मध्यचक्र तामें स्थित होय तब या अवस्थामें योगी दृढ हे आसन जाको और ज्ञानी और रूपलावण्यमें अधिक होय जाय यातें देवतुल्य एसो होय हे ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथी भेदनके अनंतर कंठमें वर्तमान जो विष्णुग्रंथीके कुंभककरकें भेदन तातें ब्रह्मानंदको जाननो होय हे. अनेक नादनको संमर्द होय और भेरीको नाद जो शब्द ताकोसो शब्द सो भेरीनाद शब्द ता कालमें होय हे ॥ ७३ ॥

अब परिचयावस्था कहें हें ॥ तृतीयायामिति ॥ तीसरी जो परिचयावस्था तामें भृकु-

मू० चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७८ ॥
रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥

॥ टीका ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधि ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति॥७८॥

तदा कदेत्यपेक्षायामाह ॥ रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथिं भित्त्वा आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलःप्राणो भवति तदा । निष्पत्त्यवस्थामाह ॥ निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायां ; ब्रह्मरंध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबंधी शब्दो निनादः क्वणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

एकीभूतमिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेकविषयीभूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं

॥ भाषा ॥

टीके मध्यमें जो आकाश तामें बाजेनको सो शब्द जानवेकूं योग्य होय हे ताई अवस्थामें संपूर्ण सिद्धी जे अणिमादिक तिनको आश्रयरूप स्थान भ्रुकुटीके मध्यमें आकाश ताप्रति प्राणवायु प्राप्त होय हे ॥ ७४ ॥

चित्तानंदमिति ॥ अंतःकरणकी वृत्तीतें हुयो सुख ताय तिरस्कारकरकें स्वाभाविक आत्मसुखको उदय होय हे तब दोष दुःख जरा व्याधी क्षुधा निद्राकरकें वार्जित योगी होय हे ॥७८॥

रुद्रेति ॥ आज्ञाचक्रमें रुद्रग्रंथि हे सो जब रुद्रग्रंथिकूं भेदकरकें शिवजीको स्थान भ्रुकुटिमध्य तामें प्राणवायु प्राप्त होय हे तब योगी कहे गुण तेसो होय हे अब निष्पत्ति अवस्था कहें हें ॥ ब्रह्मरंध्रमें प्राणवायु जाय तब निष्पत्ति अवस्था होय हे जब निष्पत्ति अवस्था होय तब वांशकोसो शब्द और शब्दायमान वीणाकोसो शब्द होय हे ॥ ७६ ॥

एकीभूतमिति ॥ ता अवस्थामें अंतःकरण एकविषयीभूत हो जाय हे. चित्तके एकाग्रताकूं ही राजयोग कहें हें. नादके अनुसंधानमें परायण जो योगी सो सृष्टि और संहार

मू० सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥
अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम॥
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥
उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारेति ॥ असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अतएवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ राजयोगमिति ॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रूध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम् । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

॥ भाषा ॥

करे हे. एसो योगी यातेंही ईश्वरकी तुल्य होय हे ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ मुक्तिहो वा मत हो यामेंही अखंड सुख हे. लयतें हुयो जो सुख सोवी राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ७८ ॥

राजयोगमिति ॥ राजयोगकूं नही जाने हे और केवल हठकर्मकूं करे हें जे अभ्यासी हें तिने श्रमके फलकरकें वर्जित मानूं हुं ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रही उन्मनी अवस्थाकी प्राप्तिके अर्थ भ्रुकुटीनके मध्यमें जो ध्यान सो स्वात्माराम जो मे सो मेरे संमत हे. राजयोगपद जो तुर्यावस्था ताय प्राप्त होयवेकूं भ्रुकुटीमध्य ध्यान अल्पबुद्धीवारेनकूं सुखपूर्वक उपाय हे. और नादतें हुयो जो चित्तको लय सो शीघ्रही प्रतीतिको करवेवारो होय हे ॥ ८० ॥

मू० नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः॥८१
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धत इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यं । इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह ॥ कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय । हस्तांगुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतानिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् । तदुक्तं । तुर्यावस्था चिदभिव्यंजकनादस्य वेदनं प्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवंतीति । उक्तं च त्रिपुरासारसमुच्चये । 'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः । अणिमादिगुणा भवंति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य । सुरराजतनूजवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन । जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा शृणोति मर्त्यः' इति। सुरराज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रंध्रे स्पष्टमन्यत् ॥८२॥

॥ भाषा ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादको वारंवार चिंतमनकरकें जो चित्तकी एकाग्रता ताय भजैं एसे जे योगीश्वर तिनकें हृदयमें वढ रह्यो वाणीकरकें कहवेमें नही आवे एसो मुख्य आनंद ताय एक श्री गुरुनाथ ही जाने हे. और नही जाने या कहवेमें ये हे नादके अनुसंधानको आनंद गुरूनतेंही जानो जाय हे ॥ ८१ ॥

कर्णावित्यादि ॥ योगी हाथके अंगुठानकूं कर्णमें धरके अर्थात् कान मुंदकरकें ध्वनी जो अनाहत शब्द श्रवण करे ताध्वनिमें चित्त स्थिर करे जब तांई तुर्यपदकूं प्राप्त होय॥८२॥

मू० अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ८३ ॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

॥ टीका ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यं ध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयं । योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते । ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम् ॥ **आदाविति** ॥ आदौ वायोर्ब्रह्मरंध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरा वाद्यविशेषः । 'भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमानि' त्यमरः। झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिंडिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपी' त्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभावो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः । घंटाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घंटाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

॥ भाषा ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यास कियो हुयो नादबांरके शब्दकूं आवरण करे हे. और नादाभ्यासी योगी पक्षमात्रमें संपूर्ण चित्तको चांचल्यता ताय जीतकरकें सुखी होय ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथम अभ्यासमें अनेक प्रकारको महान् समुद्र और मेघ और भेरीकूं आदिलेके जे शब्द तिनकीसदृश नाद श्रवण करिये हे ता पीछें नादानुसंधानको अभ्यास वढे जब सूक्ष्म सूक्ष्महो श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ८४ ॥

नानाप्रकारको नाद कहे हें ॥ **आदाविति** ॥ जब वायु ब्रह्मरंध्रकूं गमन करे हे ता समयमें आदिमेंतो समुद्र मेघ भेरी डमरु इनके शब्दकोसो शब्द होय हे. और मध्यमें पणव और

मू० अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

॥ टीका ॥

अंते त्विवति ॥ अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुः वीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयंते ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरी-शब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव परामृशेच्चिंतयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदितिभावः ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घन-सूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

॥ भाषा ॥

शंख घंटा काहलको रव जो हे सो इनके शब्दकोसो शब्द होय हे ॥ ८५ ॥

अंतेत्विति ॥ और अंतमें तो प्राणकूं ब्रह्मरंध्रमें बहोत स्थिर हुयेके अनंतरतो किंकिणी जो क्षुद्रघंटिका वेणु वीणा भ्रमर इनके शब्दकेसे शब्द नानाप्रकारके देहमध्यमें प्राप्त हुये श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदिले वाजे इनके शब्द श्रवण करे तब नादनमें सू-क्ष्मसूंबी सूक्ष्म नाद ताय चिंतमन करे ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदि ले तिनको महान् नाद ताय महान्नादमें छोडक-रकें और सूक्ष्ममें सूक्ष्म नाद ताय छोडकरकें रजोगुणकरकें अत्यंत चंचल मन ताय और विषयनमें प्रेरणा न करे ॥ ८८ ॥

मू० यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥
मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते ॥ ९० ॥
मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

॥ टीका ॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्घने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारा द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति । तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः स्रक्चंदनवनितादयस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः । दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशितांकुशः तीक्ष्णांकुशः नियत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥' इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

॥ भाषा ॥

यत्रेति ॥ जा काउ महान्नादमें और सूक्ष्मनादमें पूर्व मन लगो होय ताही नादमें स्थिर होयकरकें ता नादकरकें सहित लीन होय हे ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ जैसे भ्रमर पुष्पको रस ताय पानकरत गंधकूं नही इच्छा करे हे तेसेंही नादमें आसक्त हुयो चित्त सो विषय जे पुष्प चंदन स्त्रियादिक तिने नही कांक्षा करे हे निश्चय होय ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयरूपी वनमें विचरे ताको मन सोही हुयो मतवालो गजेंद्र ताके पीछें बगदायवेमें समर्थ तीक्ष्ण अंकुशरूप नादही हे ॥ ९१ ॥

मू० बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥
नादोऽतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥
अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

॥ टीका ॥

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्तया स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिव प्राप्तं । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणमेति । तत्र दृष्टांतमाह । छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन । 'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ॥' शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंता चिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शाद्यजंतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता वांछता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिंतनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन । 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥' तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

नादोऽतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालं । यथा वागुरा बंधनेन सारंगस्य चांचल्यं

॥ भाषा ॥

बद्धं त्विति ॥ नादरूपी बंधनकरके बंधो हुयो भली प्रकार त्याग कियो हे चपलता जाने एसो मन अधिककर स्थिरताकूं प्राप्त होय हे. छिन्न हुये हें पक्ष जाके एसो पक्षी स्थिर होय हे तेसें ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ एकाग्रचित्तकरकें संपूर्ण बहारभीतरकी चिंता ताय परित्यागकरकें राजयोगपदकूं इच्छा करे ता पुरुषकरकें नादही अनुसंधान करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

नादोऽतरंगेति ॥ये नाद अंतरंग मनरूपी जो सारंग मृग ताके बांधवेमें वा चंचलता ताई

मू॰ अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥
बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

॥ टीका ॥

हरति तथा नादोंऽतरंगस्य स्वशक्त्या चांचल्यं हरतीत्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ यमिनो योगिनोंऽतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोंऽतरंगस्येत्यर्थः । अतःकारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तं । पक्षे गुटिकाकृतिं । प्राप्तं अत एव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनः पारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं त-

॥ भाषा ॥

दूर करवेमें जालकीसीनाई हे जेसें जालके बंधनकरकें सारंगको चांचलपनो दूर होय हे तेसेंही नाद अंतरंग मनकी चांचल्यताकूं अपनी शक्तिकरकें दूर करे हे अंतरंग मन सोही हुयो हरिण ताके बंधनमें व्याधकीसीनाई आचरण करे हे ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ योगीको अंतरंग मनरूपी घोडा ताय रोकवेकी लोहेकी आगलकीसीनाई नाद हे जेसें घोडाशालाके द्वारमें लोहेकी आगल लगाय घोडाकी बहारगतीकूं रोके हे तेसेंही अंतरंग मनकूं विषयनतें रोकवेवालो नाद हे यातें योगी करकें नादउपासना नित्यप्रति निश्चयकरकें धारण करनो योग्य हे ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नादके जारणतें बंधो हुयो और दूर होय गयो हे चंचलता जाको एसो मन निरालंब ब्रह्माकार वृत्तिको प्रवाह अखंड करे हे. जेसें गंधकके जारणतें बंधो हुयो पारदको गुटिका मुखमें राखेतें आकाशगती करे हे तेसेंही ॥ ९६ ॥

मू॰ नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥ ९७ ॥
काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादेप्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥
घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

देव खमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति, एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः । सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि धावति नैव धावनं करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते' इति विष्णुपुराणोक्तलक्षण 'स्तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरि' ति पातंजलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा । नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मैत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यती' ति ॥ ९८ ॥

घंटादीति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझर्झरदुंदुभिजीमूतादीनां ते घंटादयः

॥ भाषा ॥

नादेति ॥ अनाहत नादके श्रवणकरकें शीघ्र अंतरंग मनरूपी सर्प संपूर्ण विस्मरण होयकरकें एकाग्रचित्त होय कहूंबी विषयांतरमें नही डोरे ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठमें प्रवर्त हुयो अग्नि काष्ठकरकें सहित ज्वालारूप परित्यागकरकें शांति होय हे तेसेंही नादमें प्रवर्त्त हुयो चित्त नादकरकें सहित लीन होय हे ॥ ९८ ॥

घंटादीति ॥ घंटादिकनके शब्दनमें आसक्त यातेंही निश्चल अंतःकरणरूप हरिणको

मू० अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥
तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योंऽतःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद्द्रुतगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेसुत्करं सुखेन कर्तुं शक्यम् ॥ ९९ ॥
अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्रादं उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोंऽतःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुणगुणिनोरभेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

प्रहार नानावृत्तिनको रोकनो सहज हे ॥ ९९ ॥

अनाहतस्येति ॥ अनाहत शब्दकी जो ध्वनी श्रवण करे हे ता ध्वनीके भीतर स्वप्रकाश चैतन्य तामें अंतर्गत प्राप्त मन सो मन चैतन्यमें लय होय हे सो विष्णुको परमपद योगीनकरके प्राप्त होय हे ॥ १०० ॥

तावदिति ॥ जितनें नाद श्रवण करवेमें आवे हे तब तलक आकाश रहे हे. जब मन करकें सहित शब्दको लय होय हे और नादके लय हो तेंहीं चित्त अपने स्वरूपकरकें स्थित होय हे शब्दरहित जो ब्रह्म हे ताय परमात्मा कहे हें ॥ १ ॥

मू० यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वेहठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ ३ ॥
तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वांतस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । काष्ठे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसनकुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः । राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्युं वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थांकुराकारेण परिणममानत्वात्। हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिको-

॥ भाषा ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूप करकें जो कछू श्रवण करवेमें आवे हे सो शक्ती है ओर जो तत्त्वनको लय जामें और आकाररहित होय सोही परमेश्वर हे ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ ये संपूर्ण हठ लयके उपाय आसन कुंभक मुद्रा ये हठके उपाय हें और नादानुसंधान शांभवीमुद्रादिक ये लयके उपाय हें ये राजयोग जो सर्ववृत्तीनको रोकनो ताकी सिद्धीके अर्थ कहें हें राजयोगकूं प्राप्त हुयो जो पुरुष सो मृत्युकूं जीतवेवारो होय हे ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वतो चित्त और बीज उन्मनी अवस्थाको अंकुर ओर हठ प्राणायाम और क्षेत्र उदासीनता जल इन तीनोमकरकें उन्मनीअवस्था सोहि कल्पलतिका संपूर्ण इष्टकी करवेवाली सो शीघ्रही उत्पन्न होय हे ॥ ४ ॥

मू० सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ५ ॥
शंखदुंदुभिनादं च न श्रृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ ६ ॥
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

त्पत्तेरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ ४ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिंतनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ ६ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः ॥ शंखदुंदुभीति ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुपं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृ-

॥ भाषा ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादके अनुसंधानतें पापनको समूह नाशकूं प्राप्त होय हे निर्गुण चैतन्यमें निश्चेंही चित्त और वायु ये दोनो लीन होय हे ॥ ५ ॥

शंखदुंदुभीति ॥ उन्मनी अवस्थाकरकें योगीको देह काष्ठकीसी नाई निश्चेष्टावान् होजाय हे. तब शंखदुंदुभीनको नाद ताय कोई समयमें नही श्रवण करेहें ॥ ६ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति मूर्छा मरण ये पांच अवस्थानकरकें रहित होय. और संपूर्ण चिंताकरकें रहित होय. और मृतकीसी नाई स्थित होय सो तुर्य अवस्थावान् योगी जीवतोही मुक्त हे ॥ ७ ॥

मू० खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ८ ॥
न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ ९ ॥
चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥

॥ टीका ॥

त्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजले सूत्रे । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमि'ति । स्पष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते । न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजनने न क्लेश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रं । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिरि'ति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनी'त्यमरः ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तं । आवरकस्य तमसोऽभावा

॥ भाषा ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिकरकें मुक्त योगी मृत्युकरकें नही नाशकूं प्राप्त होय हे. कियेहुये जे शुभ अशुभ कर्मकरकें जन्ममरणादिककरकें जे क्लेशते नही ही होय. कोई पुरुषकरकें अथवा यंत्र तंत्र मंत्रादिककरकें नही साधन करवेकूं समर्थ होय हे ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिकरकें युक्त योगी गंध दुर्गंध ताय नही जाने हें. और मीठो कडवो कषायलो तीखो लवण अम्ल इनकूं नही जाने हें. और रूप जो श्वेत नील लाल हरित पीलों इनें नही जाने हें. और स्पर्श जो शीत उष्ण इनकूं नही जाने. और शब्द शंख नगाडे समुद्र मेघादिकनके शब्द और आत्मा जो देह ताय और पुरुषांतर इनकूं नही जाने हे ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ जा योगीको चित्तसूतो न होय जागतोबी न होय और स्मृतीबी न होय

मू० न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ १० ॥
न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ११ ॥
स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिगुणेंऽतःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदांतःकरणस्य बिषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते । नो जाग्रत् इंद्रियैरर्थग्रहणाभावात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृनी ताभ्यां वर्जितं । वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितं । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चितस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति । वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णं । समाहारद्वंद्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादिकं । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नेंद्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कायेंद्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निः-सारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । स निश्चितं निःसं-

॥ भाषा ॥

विस्मृतीबी नहोय नाशकूंबी प्राप्त नहोय और उदयबी नहोय एसो योगी जीवन्मुक्त हे ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधियुक्त योगी शीत उष्ण सुख मान अपमान इनकूं नही जाने हे ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ प्रसन्न हे अंतःकरण जाको एसो योगी जाग्रद् अवस्थामें सुप्तकीतुल्य स्थित होय श्वासनिश्वासकरकें रहित स्थित होय सो जीवन्मुक्त हे ॥ १२ ॥

मू० अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

दिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण । 'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम्' इति ॥ १२ ॥

अवध्य इति ॥ समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्त्वात्तेऽपि प्रदर्श्यंते । दत्तात्रेयः । 'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुरि'ति । मार्कंडेयपुराणे । 'उपसर्गाः प्रवर्तंते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे । काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु । देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा । श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि । अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति । विघ्नमित्थं प्रवर्तेत यत्नाद्योगी निवर्तयेत् । ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्मपुराणे । 'यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसं । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् ।' योगभास्करे । 'सात्त्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः । विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिने'ति ॥ १३ ॥

॥ भाषा ॥

अवध्य इति ॥ समाधिकरकें युक्त योगी सबले शस्त्रनकरकें नाश होयवेकूं अशक्य है और सर्व देहधारीनकर पराक्रमकरकें समर्थ नही हे और मंत्र यंत्र तंत्रादिकनकर वशीकरण मरणादिक करवेकूं समर्थ नही ॥ १३ ॥

मू० यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे यावद्बिंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥

॥ टीका ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह ॥ यावदिति ॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यंतं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यंतं न विशति । ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगमि' ति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबंधात्कुंभकेन स्थिरीकरणाद्बिंदुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक्। 'मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेदि' ति। तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः। उक्तममृतसिद्धौ । 'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेंद्रो ब्रह्मरूपकः । असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयमि'ति । यावत्तत्वं चित्तं ध्याने ध्येयचित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहानैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संबध्यते। वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ । 'यदासौ श्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा बिंदुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह । तदभावेऽह्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ । 'यावत्प्रस्पंदते चित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाचित्तं कर्मगुणान्वितमि' ति । तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभमिथ्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणबिंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिंदुश्चलः स्मृतः । बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम् । चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा । जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥' इति । योगबीजेऽप्युक्तम् । 'चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः । न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥ इति । एतेन प्राणबिंदुमनसां जये तु ज्ञा-

॥ भाषा ॥

यावदिति ॥ सुषुम्नामार्गमें गमन करत प्राणवायु जबताई ब्रह्मरंध्रपर्यंत नही प्रवेश करे है. और प्राणवायुकूं कुंभककरकें स्थिर करवेतें वीर्य जबताई स्थिर नही होय. और

मू॰ यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥ १४ ॥
इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥
मूलश्लोकसंख्या ॥ ३९३ ॥ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ टीका ॥

नद्वारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सुचितम् । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् । मूर्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः । यथावस्था भवेद्बिंदोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥' ननु । 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचिदि'ति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायास्तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इतिचेन्न । तेषां योगांगेष्वंतर्भावात् । तथाहि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेंऽतर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायो ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेंऽतर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन । 'सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैरि'ति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता । 'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः ॥' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिंतनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेंऽतर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्याध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेंऽतर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम् ।

॥ भाषा ॥

जबतांई तत्त्वके चिंतमनमें चित्त ब्रह्मके आकार वृत्तिप्रवाह नहीं होय तबतांई जो ज्ञान कहे ज्ञानके कहवेकरकें में पूजवेके योग्य होय जाउंगो या बुद्धीकरकें कहे तो वी क-

॥ टीका ॥

'उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तममि'-ति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः । 'वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते' इति । ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तं । 'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनमि'ति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । क्लेशतनूकरणार्थश्चेत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतंजलिना । भजते सेव्यते भगवदाकारमंतःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनमि'ति । नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेंऽतर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना । ईश्वरप्रणिधानाद्वे'ति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते । तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः । 'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषयकैकांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु । 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिरि'ति । 'तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेही'ति श्रुतेः । 'भक्त्या मामभिजानाती'ति स्मृतेश्च । आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्ननिरतिशयसुखदारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंतर्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम् । रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यंब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥ सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥ ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्नेयं शिवांघ्रियुगलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ टीकाग्रंथसंख्या ॥ २४५० ॥

॥ भाषा ॥

हनो कपटपूर्वक मिथ्याभाषण जाननो या अष्टांग योगतें न्यारो कछूबी परम पुरुषार्थ साधन नहीं हें ॥ १४ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां दध्यङ्कुलोत्पन्नजटाशंकरात्मजश्रीधरकृतायां **मनोभिलाषिण्यभिधायां** समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥४॥ भाषाग्रंथसंख्या ॥ १६९७ ॥

इदं पुस्तकं १८१७ परिमिते शालिवाहन शके तथा १९५१ परिमिते विक्रमादित्यसंवत्सरे वैशाख मासे कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथौ गुरु वासरे मुम्बापुर्यां 'प्रबोधरत्नाकरा'ख्ये मुद्रणालये मुद्राप्य शास्त्रितः संशोध्य प्राकाश्यमनायि ।

अनेन श्रीराधारमणः प्रीयताम् ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

जाहीर खबर.

गोवर्धनदासलक्ष्मीदासग्रन्थरत्नमालिका विक्रयार्थं सिद्धा.

रत्नांक.	ग्रन्थनाम.	किं. रु.	ट. म. आ.
१	घटखर्परकाव्य सटीक संस्कृत द्वितीयावृत्ति	-॥=	८=
६	रामदासचरित्र (बखर) महाराष्ट्र भाषा वार्तिक.	२॥	८≡
७	महिपतिकृत संतविजय ग्रंथ महाराष्ट्रभाषा ओवीबद्ध	३	-।
१०	आनंदरामायण संस्कृतमूल श्लोक १७००० की....	५	-॥
११	भ्रांतवारणदर्पण हिन्दीभाषा (दयानंदमतखंडन)	१	८=
१२	विठ्ठलपंचरत्न गुटका संस्कृत नित्य पाठकरनेका....	-।	८-
१३	शिवराजबावनी और छत्रसालदशक कविभूखणकृत	-।=	८-
१४	व्रजभाषाभ्रमरगीत श्रीनंददासजीकृत	८≡	८-
१५	गोपीगीत तीनभाषामें समश्लोकीटीकासमेत	८=	८॥
१६	स्वप्न तथा आयुष्यनिर्णय गुर्जरटीकासमेत	-।	८-
१७	पल्लीसरठपतनारोहणनिर्णय गुर्जरटीकासमेत	-।	८-
१८	बृहत्स्तोत्रसरित्सागर भाग १ ला संस्कृत (१२ पंचरत्नोंका संग्रह)	२।	-।
१९	किसनबावनी हिन्दीभाषा कवित्तमय	८≡	८॥
२०	बृहत्स्तोत्रसरित्सागर भाग २ रा संस्कृत (२३७ ग्रंथोंका संग्रह)	३	-।
२१	कृष्णाभिसारनामकं काव्यम् सटीकं	-।	८॥
२२	श्रीवल्लभाचार्यजीकी निजवार्ता, घरुवार्ता, तथा चौरासी बेठकनके चरित्रसहित, चौराशी वैष्णवनकीवार्ता	५	-॥

वेल्युपेबल अगर रजिष्टर पारसलका महसुल आना २ जादा पडेगा.

ठि० भुलेश्वर चकला फिरंगीके देवलकी गली " यदुवंशीयपुस्तकालय " मुंबई.

गोवर्धनदास लक्ष्मीदास,
प्राचीनग्रंथप्रकाशक